श्री बृहत्कल्प सूत्रम्

सटीकम्

सम्पादकः
आचार्य्य हस्तिमल्लो मुनिः

लागत ५०० प्रति

कम्पोज	...	...	४८७॥) रुपये
छपाई	...	...	७८) ”
बाइडिंग	...	...	५७) ”
कागज	...	...	२६२॥) ”
टाइटल	...	...	२५) ”
			कुल ९१०)

मुद्रित
श्री दुर्गाप्रसाद
दुर्गा प्रेस धानमण्डी, अजमेर।

प्रबन्धक के दो शब्द

लक्ष्य रहित, अनियन्त्रित जीवन, जीवन नहीं, महद्‌भावों से भरा अनुशासित एवं संयत जीवन ही आदर्श-मानवीय-जीवन है। जो, मनुष्य जीवन जैसे अनमोल, दुर्लभ जीवन को पाकर भी अपनी उद्दाम-लालसा, विषय-तृष्णा तथा क्रोधादि-कषाय भावों पर नियन्त्रण नहीं रखता, दुर्विचारों का उपशमन नहीं करता, भला वह भी क्या मानव कहाने का अधिकारी है? उससे तो वे पशु पक्षी अच्छे, जो अज्ञानता की दशा में भी पापातिरेक से बचे रहते हैं।

संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं, उनकी महत्ता उनके शुभाचरणों के द्वारा ही कुन्दन की तरह तपकर निखर पायी। शास्त्र, पुराणों में उनके अलौकिक आचरणों का महत्वपूर्ण दिग्दर्शन है, जो भावी पीढ़ी के पथ प्रदर्शन के लिये प्रकाश-स्तम्भ की तरह चिरकाल से चमकता आरहा है।

"बृहत्कल्प" उन्हीं आदर्श पुरुषों के कर्त्तव्यों का परिचायक शास्त्र है, जिसमें दिखाया गया है कि उभयलोक कल्याण कामियों को कैसे चलना, ठहरना, खाना, पीना, आना, जाना, तथा लोक समुदाय के संग व्यवस्थित व्यवहार पूर्वक जीवन यापन करना चाहिए। यद्यपि बृहत्कल्प का प्रणयन साधु वर्ग के निमित्त हुआ है, फिर भी हम संसारी मानव इस में प्रतिपादित अनुशासनात्मक तरीके से अपनी आत्मा का अभ्युदय कर जीवन को सफल बना सकते हैं।

पूज्य श्री ने इस सूत्र का अनुवाद आज से बहुत पहले ही सम्पादित कर दिया था, किन्तु इसी बीच दूसरे सूत्रों के प्रकाशन होते रहने से इसके प्रकाशन का अवसर प्राप्त नहीं हुआ। इस वर्ष मेड़ता चातुर्मास में "सम्यक् ज्ञान प्रचारक मण्डल" (जोधपुर) के कुछ उत्साही एवं आगमप्रेमी सज्जनों की राय इसको प्रकाशित कर देने की हुई। सुयोग से उस समय श्रीमान् "सरदारनाथजी मोदी एडभोकेट जोधपुर"

यहां उपस्थित थे। उन्होंने इसके प्रकाशन का द्रव्य भार अपने ऊपर उठा लिया। तदनुसार इसके प्रकाशन का कार्य मुझपर सौंपा गया, और बड़ी मिहनत के बाद अल्प समय में ही मैं इसको प्रकाशित करवा रहा हूँ। इसलिये इसमें त्रुटियों का रह जाना असंभव नहीं। हां, यह कहने में मुझे कुछ भी संकोच नहीं कि जितना भी प्रयास मैं कर सकता था करने में नहीं चूका, फिर भी पृष्ठ ४० के २१ वीं पंक्ति में 'कप्पइ' की जगह 'नो कप्पइ' तथा पृष्ठ ४० " ऽऽवश्यायेषु में ये छूट गया है। ऐसे बिन्दु, विसर्ग या मात्रा अथवा अक्षर जो भी दृष्टिदोष अथवा मुद्रण यन्त्र दोष से छूट गए हों पाठक उन्हें सुधारकर पढ़ें।

प्रकाशन की सारी जिम्मेदारी मुझपर है, इसलिए इसकी समस्त त्रुटियों का जिम्मेदार मैं हूँ। आशा है विज्ञ पाठक मानवीय अन्तःकरण की दुर्बलताओं को ध्यान रखते हुए मुझे क्षमा करेंगे।

अंत में मैं उन सब सज्जनों का आभारी हूँ जिनके सहयोग से इस काम को पूरा कर पाया हूँ।

विनीत

शशिकान्त झा, 'शास्त्री' व्याकरणाचार्य

—❀ प्रकाशन सहायक का संक्षिप्त परिचय ❀—

मरुधरा में जोधपुर चिर अतीत से लेकर इस क्षण तक अपनी कतिपय विशेषताओं के कारण सुप्रसिद्ध रहा है। यहां के नागरिकों में एक बड़ी संख्या जैन धर्मावलम्बी ओसवालों की हैं जो शिक्षा एवं राजकारिणी के क्षेत्र में जोधपुर ही नहीं अपितु राजस्थान भर में काफी ख्यात रहे हैं। इसी ओसवाल वंश की मोदी शाखा में इस सूत्र के प्रकाशन सहायक श्री सरदारनाथजी साहब का शुभ जन्म हुआ। आपके पिता श्री सुजाननाथजी मोदी हिन्दी, अंग्रेजी एवं उर्दू के अच्छे विद्वान थे। और इसी आनुवंशिक संस्कार के फलस्वरूप सरदारनाथजी साहब १८ वर्ष की छोटी उम्र में ही वकालत की परीक्षा पास कर गए। सं० १८७५ में सुजाननाथजी साहब ने 'परबतसर' में अपनी इह लीला समाप्त की, जब सरदारनाथजी की उम्र केवल २१ वर्ष की थी। आपके ऊपर एक बड़े परिवार का भार आ पड़ा और आपने उसे बड़ी दक्षता के साथ माथे चढ़ाया। कुछ दिन भी नहीं बीतने पाये कि मारवाड़ में प्लेग और मलेरिया का दौरा प्रारम्भ हुआ। जिसमें आपकी धर्मपत्नी तथा दो लड़के एवं अन्य कतिपय स्नेही स्वजन चल बसे। यद्यपि यह घटना बड़े बड़े संगदिलों को को भी घबरा सकती थी, किन्तु आपने इस आकस्मिक दारुण दुःख को बड़े धैर्य से सहन किया और अपनी दुनियांदारी में कोई आंच नहीं लगने दी। एक साधारण मुनीमी से लेकर जोधपुर राज्य के ख्यातिनामा वकील के रूप में आप अपना कार्य सम्पादन करते रहे हैं। दृढ़ अध्यवसाय तथा अटूट लगन से आपने अच्छी सम्पत्ति भी उपार्जन करली है।

भींवालिया में वैज्ञानिक यन्त्रों से आपकी देख रेख में चलने वाला कृषि कार्य जोधपुर के कृषि-क्षेत्र का एक जीता जागता उदाहरण है। आप जोधपुर के "रत्न श्रावक मण्डल" के उप-प्रधान मन्त्री हैं तथा समाजमें आपका आदरणीय स्थान है।

आप एक परिश्रमी तथा दूरदर्शी व्यक्ति हैं। जैनधर्म में आपकी अटूट आस्था तथा विश्वास है। आप हर काम को पूर्ण मुस्तैदी तथा लगनसे करते हैं, यही कारण है कि आपने अपने जीवन में काफी प्रगति भी करली है। आपने द्रव्य दानसे इस सूत्र को प्रकाशित करने में मण्डल की मदद की है। अतः मण्डल की ओर से मैं आपको धन्यवाद देते हुए शासनदेव से प्रार्थना करता हूं कि वे आपकी इस उदार तथा धार्मिक भावना को सफल बनाए रहें।

विनीत

शशिकान्त 'झा' शास्त्री

❀ प्राक्कथन ❀



जैन शास्त्रों को प्रमुख चार भागों में बांटा गया है अंग, उपांग, मूल और छेद। उनमें बृहत्कल्प का स्थान भी छेद सूत्र में एक है। आगमों में विभिन्न जगह 'दसा कप्पववहाराणं उद्देसण कालेणं' ऐसा निर्देश आता है, जिसमें दशाश्रुत स्कंध के साथ बृहत्कल्प का भी कल्प के संकेत से उल्लेख किया गया है। ज्ञात होता है कि इसका पूर्व नाम कल्पसूत्र ही रक्खा गया हो, क्योंकि वृत्तिकार आचार्य मलयगिरि भी इसी नाम से परिचय देते हैं। स्थानांग और आवश्यक आदि में कल्प नाम का उल्लेख होते हुए और वृत्ति में भी कल्प नाम से परिचय होते हुए इसको बृहत्कल्प नाम से क्यों कहा जाता है, 'निगूढाशया हि आचार्याः' ऐसा होने पर भी यथासाध्य कारण का पता लगाना चाहिये। संस्कृत में एक नियम है कि—'संभव व्यभिचारा-भ्यांस्याद्विशेषणमर्थवत्' विशेषण का संभव हो या उसके बिना दोष आने की संभावना हो, तभी विशेषण की नाम के साथ सार्थकता होती है। इस दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि बृहत्कल्प और दशाश्रुतस्कंध का पर्यूषण-कल्प जिसको आज कल्पसूत्र के नाम से कहते हैं, दोनों को यदि एक ही नाम से कहा जाय तो ग्रंथ का सही परिचय प्राप्त नहीं होगा। अतः आवश्यकता हुई दोनों में विशेषण देने की। कल्प सूत्र के अन्तिम भाग समाचारी में भी कुछ कल्पाकल्प का भेद दिखाने को उल्लेख किया है और इसमें उसी का विस्तृत विचार है—संभव है इसी दृष्टिकोण को लेकर मध्यकाल के आचार्यों ने इसका नाम बृहत्कल्प रखा हो। सामग्री के अभाव और समय की कमी से यहां अभी यह निर्णय नहीं कर सकते कि बृहत्कल्प नाम की प्रसिद्धि कब से हुई।

कर्त्ता—

प्राप्त सामग्री के अनुसार बृहत्कल्प सूत्र के कर्त्ता श्रुतकेवली भद्रबाहु माने गये हैं। आचार्य मलयगिरि कहते हैं कि—अथ कः सूत्रमकार्षीत्! को वा निर्युक्तिं! को वा

आप एक परिश्रमी तथा दूरदर्शी व्यक्ति हैं। जैनधर्म में आपकी अटूट आस्था तथा विश्वास है। आप हर काम को पूर्ण मुस्तैदी तथा लगनसे करते हैं, यही कारण है कि आपने अपने जीवन में काफी प्रगति भी करली है। आपने द्रव्य दानसे इस सूत्र को प्रकाशित करने में मण्डल की मदद की है। अतः मण्डल की ओर से मैं आपको धन्यवाद देते हुए शासनदेव से प्रार्थना करता हूं कि वे आपकी इस उदार तथा धार्मिक भावना को सफल बनाए रहें।

विनीत

शशिकान्त 'झा' शास्त्री

शास्त्र के अधिकारी—

प्राचीन समय की एक मर्यादा है कि अयोग्य को ज्ञान नहीं देना चाहिए यदि कोई आचार्य ज्ञान दान में योग्याऽयोग्य का विचार नहीं करे तो शास्त्र ने उसे दोषभागी माना है। आवश्यक सूत्र में इसको "सुट्ठु दिन्नं" नामक ज्ञानका अतिचार कहा है। स्थानांग के तीसरे स्थान में कहा है कि अविनीत १ रसलोलुपी २ और कलह का उपशमन नहीं करने वाला तीव्र कषायवान ये ३ वाचना देने योग्य नहीं हैं।

प्रश्न हो सकता है कि ज्ञान तो पापी को धर्मी बनाता और दुर्जन को भी सज्जन करता है फिर इसके लिये ऐसा परहेज क्यों ? बात यह है कि ज्ञान दो प्रकार का है एक ग्रहण शिक्षा रूप दूसरा सेवन रूप। इनमें पदार्थ ज्ञान एवं उत्सर्गापवाद की शिक्षा वाला जो प्रथम ज्ञान है उसके लिये अधिकारी का विचार आवश्यक है। आज भी अणु विज्ञान आदि के तत्व गुप्त रक्खे जाते हैं, कारण उनके दुरुपयोग की आशंका रहती है। इसलिये भाष्यकार कहते हैं कि-शास्त्र के रहस्यों को जो साधारण में प्रगट करता और अपवाद पद का गलत उपयोग करता है। वैसे ज्ञान-दर्शन-चारित्र की शिथिल प्रवृत्ति वाले को ज्ञान देना दोष का हेतु है। ऐसे अपात्र में शास्त्र ज्ञान देने वाला चतुर्गतिक संसार में परिभ्रमण करता है। इसलिये कल्पशास्त्र का ज्ञान देने के लिये निम्न गुण देखने चाहिये कहा है—

> अरहस्सधारए, पारए य, असढकरणे तुलासमे समिते ।
> कप्पाणु पालणा दीवणाय, आराहण छिन्न संसारी । ६४९० ।

अर्थात जो गम्भीर रहस्य को धारण करने वाला है, प्रारम्भ किये श्रुत को बीच में नहीं छोड़ता, छल और अहंकार से दूर तथा तुला के समान राग द्वेष रहित समबुद्धि वाला है, जितेन्द्रिय है उसको देना चाहिये, जिससे भगवत्कथित कल्प की आराधना हो। अथवा जो शास्त्र कथित विधि का पालन करे उसको देना चाहिये। ऐसा करने से मार्ग की दीपना होती है।

शास्त्रान्तर से तुलना—

बृहत्कल्प की शास्त्रान्तर से दो प्रकार की तुलना हो सकती है, एक शब्द से और दूसरी अर्थ से। यहां आर्थिक तुलना समयाभाव से नहीं कर थोड़ीसी शाब्दिक तुलना ही की जायगी। भगवती, व्यवहार और स्थानांग सूत्र में तुलना के स्थल मिलते हैं। जैसे-चतुर्थ स्थान के आदि में —तओ अणुग्घाइया प० तं० हत्थकम्मं

भाष्यम् ? इति, उच्यते–इह पूर्वेषु यद् नवमं प्रत्याख्यानं नामक पूर्वं तस्य यत् तृतीयमाचाराख्यं वस्तु तस्मिन् विंशतितमे प्राभृते मूलगुणेषूत्तरगुणेषु चापराधेषु दशविधमालोचनादिकं प्रायश्चित्तमुपवर्णितम्। कालक्रमेण च दुषमानुभावतो धृति–बल वीर्य-बुद्ध्या–ऽऽयुः प्रभृतिषु परिहीयमानेषु पूर्वाणि दुरवगाहानि जातानि, ततो 'मा भूत्-प्रायश्चित्त व्यवच्छेदः-इति साधूनामनुग्रहाय चतुर्दशपूर्वधरेण भगवता भद्रबाहुस्वामिना कल्पसूत्र व्यवहार सूत्रं चाकारि, उभयोरपि च सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिः। इमे अपि च कल्प––व्यवहार सूत्र सनिर्युक्तिके अल्पग्रंथतया महार्थत्वेन च दुःषमानुभावतो हीयमानमेधा-ऽऽयुरादि गुणानामिदानीन्तनजन्तूनामल्पशक्तीनां दुर्ग्रहे दुरवधारे जाते, ततः सुखग्रहण–धारणाय भाष्यकारो भाष्यंकृतवान्, तच्च सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगतमिति सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिर्भाष्यं चैको ग्रंथो जातः। टी०

रचना का उद्देश्य–

टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने कहा है कि पूर्व का यह प्रायश्चित भाग नष्ट नहीं होजाय इसलिये भद्रबाहु ने इसकी रचना की। किन्तु कुछ गहराई से सोचने पर मालूम होगा कि छेद सूत्र की रचना का उद्देश्य विभिन्न देशकाल में होने वाले साधु साध्वियों की परिस्थिति वश उलझी समस्या को सुलझाना और मोह, अज्ञान एवं प्रमाद आदि से लगने वाले दोषों से संयम की रक्षा करना भी है।

यह सर्व विदित बात है कि साधु भी शरीरधारी प्राणी है। काम, क्रोध लोभादि उसके साथ भी लगे हैं। यद्यपि वह इनको आश्रय नहीं देता और न उदय को टिकाने का ही यत्न करता है, फिर भी छट्ठे से ११ वें गुणस्थान तक लाख प्रयत्न करने पर भी इनका समूल नाश नहीं होता। इन छ दर्जों में वह अपने प्रयत्न के बल पर इनको मन्द, मन्दतर, मन्दतम बना लेता है, और इग्यारवें पहुँचकर तो उसको 'भस्माच्छन्न' आग की तरह हत शक्ति कर देता है। किन्तु अधिकता से प्रमत्तदशा के प्रथम स्थानपर रहने वाले साधु साध्वियों के लिये तो सदा कषाय का खतरा बना रहता है। उनके लिये निर्मोह और वीतरागता का आदर्श वांछनीय होकर भी प्राप्त नहीं है। उनका शरीर और संघ से प्रेम सम्बन्ध टूटा नहीं है। शरीर, संगी और संयम की रक्षा के लिये आहार, वस्त्र, पात्र, स्थान आदि साधनों की समय समय पर आवश्यकता होती है। अतः उत्सर्ग और अपवाद के कथन से मुनि धर्म की रक्षा और शुद्धि करना इसका प्रधान उद्देश्य समझना चाहिये।

शास्त्र के अधिकारी—

प्राचीन समय की एक मर्यादा है कि अयोग्य को ज्ञान नहीं देना चाहिए यदि कोई आचार्य ज्ञान दान में योग्याऽयोग्य का विचार नहीं करे तो शास्त्र ने उसे दोषभागी माना है। आवश्यक सूत्र में इसको "सुट्ठु दिन्नं" नामक ज्ञानका अतिचार कहा है। स्थानांग के तीसरे स्थान में कहा है कि अविनीत १ रसलोलुपी २ और कलह का उपशमन नहीं करने वाला तीव्र कषायवान ये ३ वाचना देने योग्य नहीं हैं।

प्रश्न हो सकता है कि ज्ञान तो पापी को धर्मी बनाता और दुर्जन को भी सज्जन करता है फिर इसके लिये ऐसा परहेज क्यों ? बात यह है कि ज्ञान दो प्रकार का है एक ग्रहण शिक्षा रूप दूसरा सेवन रूप। इनमें पदार्थ ज्ञान एवं उत्सर्गापवाद की शिक्षा वाला जो प्रथम ज्ञान है उसके लिये अधिकारी का विचार आवश्यक है। आज भी अणु विज्ञान आदि के तत्त्व गुप्त रक्खे जाते हैं, कारण उनके दुरुपयोग की आशंका रहती है। इसलिये भाष्यकार कहते हैं कि–शास्त्र के रहस्यों को जो साधारण में प्रगट करता और अपवाद पद का गलत उपयोग करता है। वैसे ज्ञान-दर्शन-चारित्र की शिथिल प्रवृत्ति वाले को ज्ञान देना दोष का हेतु है। ऐसे अपात्र में शास्त्र ज्ञान देने वाला चतुर्गतिक संसार में परिभ्रमण करता है। इसलिये कल्पशास्त्र का ज्ञान देने के लिये निम्न गुण देखने चाहिये कहा है—

अरहस्सधारए, पारए य, असढकरणे तुलासमे समिते ।
कप्पाणु पालणा दीवणाय, आराहण छिन्न संसारी। ६४९० ।

अर्थात् जो गम्भीर रहस्य को धारण करने वाला है, प्रारम्भ किये श्रुत को बीच में नहीं छोड़ता, छल और अहंकार से दूर तथा तुला के समान राग द्वेष रहित समबुद्धि वाला है, जितेन्द्रिय है उसको देना चाहिये, जिससे भगवत्कथित कल्प की आराधना हो। अथवा जो शास्त्र कथित विधि का पालन करे उसको देना चाहिये। ऐसा करने से मार्ग की दीपना होती है।

शास्त्रान्तर से तुलना—

बृहत्कल्प की शास्त्रान्तर से दो प्रकार की तुलना हो सकती है, एक शब्द से और दूसरी अर्थ से। यहां आर्थिक तुलना समयाभाव से नहीं कर थोड़ीसी शाब्दिक तुलना ही की जायगी। भगवती, व्यवहार और स्थानांग सूत्र में तुलना के स्थल मिलते हैं। जैसे–चतुर्थ स्थान के आदि में —तओ अणुग्घाइया प० तं० हत्थकम्मं

करेमाणे-से तओ सुमणगणणा प० तं०.......... अणुग्गहिए। पर्यन्त १३ सूत्रों का तृतीय उद्देश में पूर्ण साम्य है।

स्थानांग की विशेषता यह है कि उसके पंचम स्थान के द्वितीय उद्देश में पांच प्रकार का अनुद्घातिक बताया है, जैसे कि--पंच अणुग्घाइया पं० तं० हत्थ कम्मं करेमाणे १, मेहुणं पडिसेवमाणे २, राइभोयणंभुंजमाणे ३, सागारिय पिंडं भुंजमाणे ४, रायपिंडं भुंजमाणे ५।

द्वितीय उद्देशके अंतिम दो सूत्रों का पंचम स्थान के तृतीय उद्देश के "कप्पइ निग्गंथाणवा निग्गंथीण वा पंच वत्थाइं धारित्तए ·· ··"सूत्र में पूर्ण साम्य है केवल यहां 'इमाइं' पद नहीं है।

चतुर्थ उद्देश के ३२ वें सूत्र के साथ पंचम स्थान द्वितीय उद्देश के आदि सूत्र में प्रायः साम्य है। वहां 'कोसिआ' के स्थान पर 'एरावई' का प्रयोग है।

अपवाद में स्थानांग की विशेषता है, वहां पांच कारण बताये हैं। जैसे कि-पंचहिं ठाणेहिं कप्पंति, तं० भयंसि वा १ दुभिक्खंसिवा २, पव्वहेज्जचणंकोई ३, उदयोघंसिवा एज्जमाणंसि महतावा ४ अणारिएसु ५।"

छट्ठे उद्देश के अवचनादि चार सूत्र भी स्थानांग के छट्ठे स्थान में मिलते हैं।

दुर्ग प्रकृत के 'निग्गंथे निग्गंथिं दुग्गंसिवा विसमंसिवा' आदि सूत्रों का स्थानांग पंचम स्थान के द्वितीय उद्देश और छट्ठे स्थान में साम्य मिलता है।

अर्थ की तुलना के लिये आचारांग आदि अन्य शास्त्र भी तुलना स्थान हो सकते हैं।

बृहत्कल्प के टीका ग्रन्थ और संस्करण

भद्रबाहु स्वामिकृत निर्युक्ति के अतिरिक्त एक संघदासगणीकृत प्राकृत भाष्य है जो गाथा बद्ध है। आचार्य मलयगिरि ने कहा है कि-"सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिर्भाष्यं चैको ग्रन्थो जातः।" निर्युक्ति और भाष्य का पृथक्करण करना कठिन हो गया है। क्षेम कीर्ति के उल्लेख से चूर्णि का होना भी पाया जाता है। फिर आचार्य मलयगिरि ने इस पर संस्कृत टीका की है, जो पूर्ण उपलब्ध नहीं होती, आचार्य क्षेमकीर्ति कहते हैं कि--तदपि कुतोऽपि हेतोरिदानीं परिपूर्णं नावलोक्यत इति परिभाव्य मन्दमति मौलिनाऽपि मया गुरूपदेशं निश्रीकृत्य श्री मलयगिरि विरचित विवरणादूर्ध्वं विवरीतुमारभ्यते।". इससे ज्ञात होता है कि मलयगिरिकृत टीका का जो भाग उपलब्ध नहीं है, उसी की क्षेमकीर्ति ने पूर्ति की है। पूर्वाचार्यों ने

कुछ टबार्थ भी किये हैं। उपरोक्त निर्युक्ति, भाष्य और टीका सहित संपूर्ण ग्रन्थ "आत्मानन्द जैन सभा भावनगर" से ६ भागों में प्रकाशित हुआ है। मुद्रित भाष्य के साथ लगे हुए लघु विशेषण से यह अनुमान सहज होता है कि बृहद्भाष्य भी होना चाहिये। इसके अतिरिक्त डा० जीवराज छेलाभाई ने गुजराती अनुवाद सहित अहमदाबाद से भी १ संस्करण निकाला है। बाल ब्रह्मचारी शास्त्र विशारद पूज्य श्री अमोलक ऋषिजी महाराज द्वारा इसका हिन्दी अनुवाद भी किया गया है जो हैदराबाद दक्षिण से प्रकाशित हुआ है। आगम मन्दिर पालीताणा और मुनि जिन विजयजी द्वारा मूल संस्करण भी निकाले गये हैं।

हमारा संपादन कार्यः—

पाठक सोचेंगे कि बृहत्कल्प सूत्र के २-३ संस्करण पहले निकल चुके हैं और एस० एस० जैन कां० भी आगम बत्तीसी में इसको निकालना चाहती है। फिर यह अलग प्रयत्न क्यों ? किन्तु बात ऐसी नहीं है, आजतक के छपे हुए से इसमें विशिष्टता है। हिन्दी और गुजराती के अतिरिक्त संस्कृत टीका के साथ शुद्ध संस्करण अभीतक कोई प्रकाशित नहीं हुआ है। भावनगरसे प्रकाशित बृहत्कल्प सूत्र-भाष्य विशालकाय ६ भागों में है, जिससे सभी जिज्ञासुओं के लिये वह सुलभ नहीं हो सकता। अतः आज से १० वर्ष पहले स्व० सौभागमलजी ढड्ढा अजमेर वालों के भंडार से प्राप्त इसकी हस्तलिखितप्रति जो संस्कृत टीका सहित थी जीर्ण शीर्ण दशा में होने से उसका रक्षण भी कठिन था, दक्षिण चातुर्मास में प्रतिलिपि करवाई गई। संशोधन के लिये गवेषणा करने पर भी कोई अन्य प्रति नहीं मिली, किन्तु प्रयत्न जारी रहा। जब मुनि श्री पुण्यविजयजी द्वारा संपादित बृहत्कल्प भाष्य से मिलान करना आरम्भ किया तब सहसा बृहद् वृत्ति के अङ्गरूप यह टीका भी उसमें प्राप्त होगई। अभिलाषा की पूर्ति के साधन पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई। बाद उपयुक्त टिप्पण, शब्दकोश और अर्थ भी तय्यार किया गया। इसी बीच जिनागम प्रकाशन समिति ब्यावर से कुछ आगमों के मूल संशोधन के लिये कहा गया। आगम संशोधन के उस परम पुनीत कार्य्य में ८ सूत्र लिये गये, जिनमें बृहत्कल्प का भी एक स्थान था। अतः आगम मंदिर पालीताणा और भाष्य की प्रति से इसका संशोधन किया गया। शब्दार्थ के लिये यह उचित प्रतीत हुआ कि संपूर्ण नहीं देकर कुछ सार भाग ही दिया जाय। इस प्रकार वर्षों के प्रयत्न और विभिन्न

संस्करण एवं विद्वान् मुनियों के परामर्श को ध्यान में रख कर कार्य किया गया है। विशेष कर जैनाचार्य जैन धर्म दिवाकर पूज्य श्री आत्मारामजी म० तथा कविवर उपाध्याय पं० श्री अमरचन्दजी म० के विचारों का अधिक सहयोग मिला है। एतदर्थ उन सब ग्रन्थकार और माननीय मुनिवरों का सादर स्मरण करना भी मेरा कर्तव्य हो जाता है।

संशोधन आदि में सावधानता रखते हुए भी छद्मस्थता वश कुछ त्रुटियां रहना संभव है। जिसके लिये 'वायविक्खलियं न च्चा नतं उवहसे मुणी' इस आगम वचन के अनुसार गीतार्थ मुनि—'क्षन्तु मर्हाः' त्रुटियों के लिये क्षमा कर भविष्य के लिये मार्ग दर्शन करेंगे। इत्यलम्...

आचार्य हस्तिमल्लो मुनिः

बृहत्कल्प परिचय

बहिरंग में इसका मूल भद्रबाहुकृत होने से प्राकृत भाषा में है। जिसको ६ उद्देशकों में बांटा गया है। उनमें कुल ८१ अधिकार हैं। प्रथम उद्देश में ५१, दूसरे में २५, तीसरे में ३१, चतुर्थ में ३७, पंचम में ४२, और छट्ठे में २० कुल २०६ सूत्र हैं। साथ ही बृहट्टीका से सौभाग्यसागरसूरि द्वारा उद्धृत सुबोधा टीका भी है। विशिष्ट शब्द कोश और टिप्पण, पाठान्तर आदि से परिशिष्ट सजाये गये हैं।

प्रथम उद्देशक में-२४ अधिकार हैं, पहले प्रलंबाधिकार है, जिसमें कहा गया है कि ताल एवं केला आदि प्रलंबफल साधु साध्वियों को कैसा लेना और कैसा नहीं लेना। कच्चा हो तो साधु साध्वियों को बिना कटा लेना नहीं कल्पता-कटा हुआ ले सकते हैं। साधुओं के लिए पक्के ताल प्रलंब का निषेध नहीं किन्तु साध्वी उसे भी विधि पूर्वक कटे होने पर ले सकती है। अन्यथा नहीं।

दूसरा मास कल्पाधिकार-इसमें कहा है कि वर्षाकाल के अतिरिक्त साधु १मास और साध्वी २ मास एक गांव में रह सकते हैं। यदि गांव बाहर भीतर आदि रूप से दो भागमें हो तो द्विगुण कालतकरह सकते हैं, किन्तु उस समय जहां रहते हों उसी हिस्से से भिक्षा लेनी चाहिए।तीसरे अधिकार में साधु साध्विओं के एक गांव में एकत्र रहने का विचार है। जो गांव एक ही द्वार वाला हो, जहां उसीसे निकलना और प्रवेश करना हो वहां दोनों को एक साथ रहना निषिद्ध है। भिन्न मार्ग होने पर रह सकते हैं। चौथे उपाश्रय अधिकार में साध्वियों के लिये बाजार या गली के मुंह पर ठहरना निषिद्ध कहा है। साधु वहां ठहर सकते हैं। साध्वियां खुले मकान में बिना आवरण किये नहीं ठहर सकती, साधु रह सकते हैं। पंचम अधिकार में बताया है कि यदि मिट्टी का भांड लेना आवश्यक हो तो साध्वियां सकड़े मुंह के अरहट की घडी जैसा भांड ले सकती हैं किन्तु साधु वैसा नहीं ले सकता। छठे अधिकार में साधु साध्विओं को वस्त्र की चिलिमिलिका-मच्छरदानी-रखने की अनुमति दी गई है। सप्तम अधिकार में कहा है कि पानी के किनारे साधु साध्विओं को १० काम नहीं करना चाहिए, जैसे-खडे रहना, बैठना, सोना और खाना, पीना, स्वाध्याय आदि। आठवें अधिकार में चित्रवाले घर में साधु साध्विओं के लिये

ठहरना निषिद्ध कहा है। क्योंकि वहां ज्ञान ध्यान में विक्षेप हो सकता है, अतः साधु साध्वियों को चित्र रहित स्थान में ठहरना चाहिऐ। नवमें अधिकार में साध्वियों के शील रक्षण की दृष्टि से कहा है कि–उन्हें- शय्यादाता की देख रेख में ही रहना चाहिए। साधुओं के लिये ऐसा नियम नहीं है। दशमें अधिकार में कहा गया है कि साधु को सागारिक उपाश्रय में नहीं रहना चाहिये, किन्तु सागारिक रहित स्थान में रह सकते हैं। फिर स्पष्ट कर इसी बात को इग्यारवें अधिकार में कहा है–साधु स्त्री वाले उपाश्रय में नहीं रहे। पुरुष वाले घर में रह सकते हैं। ऐसे साध्वियों के लिये पुरुष सागारिक का निषेध और स्त्री वाले स्थान की अनुमति समझनी चाहिए। बारहवें अधिकार में कहा है कि जहां स्त्री आदि का प्रतिबन्ध हो वहां साध्वियां रह सकती हैं, साधु नहीं। १३वां अधिकार–जहां घर में होकर आना जाना पडता हो उस जगह साधु नहीं रह सकते, साध्वियां स्थानाभाव से रह सकती हैं। १४ वें अधिकार में कहा है कि साधुओं को क्रोध नहीं रखना चाहिये कभी कलह–बोलना–हो जाय तो अविलम्ब क्रोध का अन्त कर लेना चाहिये। कारण प्रशमभाव ही संयम का सार है। १५ वें अधिकार में विहार का विचार है, वर्षा-काल में विहार का निषेध और शेष काल में अनुमति है। १६ वें अधिकार में साधु साध्वियों के लिये दो विरोधी राज्यों में परस्पर शङ्का हो इस प्रकार जल्दी गमना-गमन करने का निषेध है। १७ वां अधिकार अवग्रह का है, इस में कहा है कि भिक्षा के लिये घरमें गये हुए या स्वाध्याय और बहिर्भूमि जाते समय कभी गृहस्थ वस्त्र पात्रादि से निमन्त्रण करे तो साधु साध्वी का कर्तव्य है कि वे आचार्य एवं प्रवर्तनी की निश्राय से लावें और उनकी अनुमति पाकर ही ग्रहण करें। १८ वें से २१ वें तक चार अधिकार में रात्रि के निषिद्ध कार्यों का वर्णन किया गया है। पहले में कहा गया है कि रात या विकाल में चारों आहार ग्रहण नहीं करें, केवल दिन को देखे हुए शय्या–संस्तारक रात में ले सकते हैं। ऐसे रात या विकाल में साधु, साध्वी वस्त्र भी नहीं ले सकते, अपना चुराया गया वस्त्र यदि रात में लाया गया हो तो वह ले सकते हैं। फिर–रात में एक गांव से दूसरे गांव विहार करना भी नहीं कल्पता। २२ वें अधिकार में जीमणवार में जाने का निषेध है। २३ वें अधिकार में कहा है कि साधु साध्वियों को शारीरिक कारण या स्वाध्याय के लिए रात्रि में उपाश्रय के बाहर जाना हो तो, अनुकूलतानुसार १–२ दो को साथ लेकर जाना चाहिए। २४ वें अधिकार में विहारक्षेत्र बताया गया है, पूर्व में अंग और

मगध, दक्षिण में कौशाम्बी, पश्चिम में स्थूणा और उत्तर में कुणाला देशतक आर्य्य-क्षेत्र कहा गया है।

उद्देश २--दूसरे उद्देश में ७ अधिकार हैं। प्रथम उपाश्रयाधिकार जिसमें खास तौर से १२ सूत्रों के द्वारा यह बताया गया है कि कैसे उपाश्रय में उतरना और कैसे में नहीं। पहले कहा है कि जहां शालि आदि के बीज बिखरे हों वहां नहीं ठहरना चाहिए, जहां मद्य के घड़े रखे हों और ठंडे या गर्म जल के घड़े भरे रहते हों, वहां भी साधु साध्वी के लिये ठहरना निषिद्ध है। जिस घर में रात भर आग जलती हो या दीपक रात भर जलता रहे, वहां भी साधु साध्वियों को नहीं ठहरना चाहिए। उपाश्रय की सीमा में घृत, गुड़ और मोदकादि खाद्यपदार्थ बिखरे हों वहां भी नहीं ठहरना चाहिए। साध्वियों के लिये सार्वजनिक धर्मशाला-मुसाफिर खाना-में एवं खुला घर या वृक्ष के नीचे ठहरना निषिद्ध है। साधु ऐसे स्थान में ठहर सकते हैं। दूसरे अधिकार में शय्यातर पिंड का विचार है। यदि किसी मकान के एक से अधिक स्वामी हों तो उनमें से एक को शय्यादाता बनाकर शेष घर की भिक्षा ले सकते हैं। शय्यातर का पिंड बाहर निकलने पर भी कब लिया जा सकता है, बताया गया है। ३-४-५ म अधिकार में, जो भोजन शय्यातर के यहां दूसरे का आया हो, या शय्यातर के यहां से भेजा गया हो, तथा उसके पूज्य-माननीय-पुरुष के लिये बनाया गया हो, उसको किस प्रकार ग्रहण करना, कहा गया है। छट्ठे अधिकार में कहा है कि साधु पांच प्रकार के वस्त्र धारणकर सकते हैं। जंगमज-ऊन, रेशम आदि १, अलसी २, सणसूत्र ३, कपास और वृक्ष की छाल के वल्कल ४-५। सातमें अधिकार में पांच प्रकार के रजोहरण बताये हैं-१ ऊनका २ ऊंट की जट का ३ सणका ४-५ कुटे हुए घास और मुञ्ज का।

३-तीसरे उद्देशक--में १६ अधिकार हैं। प्रथम अधिकार में कहा है कि जहां साधु रहते हों उस स्थान पर साध्वी को और साध्वी के यहां साधु को बिना कारण जाना नहीं। दूसरे अधिकार में सकारण चमड़ा लेने का विचार है। तीसरे अधिकार में कहा है कि साधु साध्वियों को अखण्ड, याने बहुमूल्य वस्त्र नहीं रखना, आवश्यकता से टुकड़ा रख सकते हैं। चतुर्थ अधिकार में कहा कि साधु कच्छा नहीं रक्खें, साध्वियां रख सकती हैं। पंचम अधिकार में भिक्षा के लिये गयी हुई साध्वी को वस्त्र की आवश्यकता हो तो लाने की विधि बताई गई है। षष्ठ अधिकार में सर्व प्रथम दीक्षा लेने वाले साधु साध्वी के लिये उपकरण का विचार है। सप्तम

अधिकार में कहा है कि शीतकालके आरंभ में अर्थात् चातुर्मासके अन्तमें वस्त्र ग्रहण कर सकते हैं। वर्षा के आरंभ (चातुर्मास) में नहीं। ८-९ और १० में कहा है कि वस्त्र ग्रहण, शय्या ग्रहण और वन्दन छोटे बड़े के क्रम से ही करना चाहिये। ११ वें १२ वें अधिकार में गृहस्थ के घर पर साधु साध्वियों के लिये ठहरना और व्याख्यान का निषेध है, अपवाद भी बताया गया है। १३ वें अधिकार में पाट आदि पाडिहारिक शय्या संथारा के देने की विधि कही गई है। १४ वें अधिकार में शय्या वापिस देते समय दूसरे साधु आ जांय तो अवग्रह की विधि बतलायी गई है। १५ वें अधिकार में कहा है कि गांव के बाहर सेना पड़ी हो तो भिक्षा के लिये वहां जाकर रात में नहीं रहना चाहिये। १६ वें अधिकारमें साधु साध्वियों के लिये गांव के चारों ओर ५-५ कोश का अवग्रह लेकर रहने का विधान है।

४-चतुर्थ उद्देश-में १६ अधिकार हैं। प्रथम द्वितीय और तृतीय अधिकार में क्रमशः तीन प्रकार के अनुद्घातिक, पारांचित और अनवस्थाप्य प्रायश्चित के कारण कहे गये हैं। चतुर्थ अधिकार में कहा है कि तीन प्रकार के मनुष्य दीक्षा, मुंडन, शिक्षा, उपस्थापन, संभोग और संवास के अयोग्य है। पंचम अधिकार में अविनीत आदि तीन प्रकार के पुरुषों को वाचना के अयोग्य और विनीत आदि को वाचना योग्य कहा है। षष्ठ अधिकार में दुष्ट, मूढ आदि तीन प्रकार के मनुष्य को दुर्बोध्य और अदुष्ट आदि को सुखबोध्य कहा है। सप्तम अधिकार में कहा है कि कष्ट में ग्लानि पाते हुए साधु को साध्वी एवं साध्वी को साधु आवश्यकता समझकर सद्भाव से सकारण सहारा दे तो आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता। अष्टम अधिकार में कहा है कि काल या क्षेत्र की-पहर तथा कोश रूप-मर्यादा का उल्लंघन कर आहार आदि का उपभोग करने से साधु साध्वी प्रायश्चित के अधिकारी होते हैं। नवमें अधिकार में आकस्मिक कोई अनेषणीय वस्तु आजाय तो साधु को क्या करना चाहिये, यह बताया गया है। दशम अधिकार में कल्पस्थित और अकल्पस्थित साधु के लिये औद्देशिक आहार की विधि कही गई है। एकादशवें अधिकार में साधुगणावच्छेदक और आचार्य आदि के गणान्तर करने की विधि बतलाई है। १२ वें अधिकार में कदाचित् किसी साधु का आकस्मिक निधन हो जाय और साधु परठना चाहे तो उसकी विधि बतलाई है। तेरहवें अधिकार में कहा है कि कदाचित् मोहोदय से साधु का किसी के साथ कलह हो जाय तो तत्काल उसका उपशमन करना चाहिये, बिना शान्त किये भिक्षा आदि के लिये जाना नहीं कल्पता।

चौहदवें अधिकार में परिहार तप वाले के साथ कैसा व्यवहार किया जाय, यह बताया गया है। पन्द्रहवें अधिकार में कहा है कि गंगा, यमुना जैसी पांच बड़ी नदियां एक मास २-३ बार उतरना नहीं कल्पता। कैसी दशा में उतर सकते यह भी दिखाया है। १६ वें अधिकार में बताया कि घास आदि का कच्चा घर यदि निर्जीव हो तो कितनी ऊंचाई होने पर वहां मास कल्प या वर्षाकाल रह सकते हैं।

पंचमोद्देश-प्रथम अधिकार में कहा है कि-साधु साध्वी को यदि स्त्री पुरुष के रूप में कोई देव देवी ग्रहण करे और वे उनको अच्छा समझे तो प्रायश्चित के अधिकारी होते हैं। दूसरे अधिकार में बताया है कि कोई साधु कलह करके दूसरे गण में जावे तो वहां कोमल वचनों से शान्त कर उसे फिर मूल गण में भेज देना चाहिये आदि। तीसरे अधिकार में प्रातःकाल या सायंकाल भोजन करते समय यदि मालूम हो जाय कि सूर्य उदय नहीं हुआ अथवा अस्त हो गया है, तो क्या करना चाहिये, बताया है। चौथे अधिकारमें रात्रि या विकाल में कंठ के नीचे से गुचलका जाय तो उसकी विधि कही गई है। पंचम अधिकार में बीज या जन्तु उपर से पात्र में गिर जाय तो किस प्रकार करना चाहिये, बताया गया है। छट्ठे अधिकार में-भोजन में सचित्त जल की बूंद गिर जाय तब उसके उपयोग की विधि कही गई है। सप्तम अधिकार में साध्वी के व्रत रक्षा का विचार है, उसके लिये निम्न बातों का निषेध है-१ एकाकिनी होकर भिक्षा, जंगल और ग्रामानुग्राम विहार करना। २ वस्त्र रहित रहना, ३ अपात्र होना, ४कायोत्सर्ग में देह का भान भूलना, ५ गांव के बाहर खड़े आतापना लेना, ६ स्थानायत आसन से रहना, ७ एक रात्रि की पडिमा कायोत्सर्ग रूप करना, ८ निषद्या आसन करना, ९ उकडू आसन से बैठना, १० वीरासन से बैठना, ११ दंडासन करना, १२ लकडासन करना, १३ उलटे मुंह सोना, १४ सीधे सोना, १५ आम्रकुब्जासन करना, १६ एक पार्श्व से अभिग्रह कर लेटना, ये कार्य्य साध्वी को नहीं करने चाहिये।

साधु की तरह साध्वी को आकुंचन पट्ट धारण करना, पीछे तकिये-सहारेदार-आसन पर बैठना, दोनों बाजू खुंटीदार पट्ट पर बैठना, नालवाला तुम्बा रखना खुली दंडी का रजोहरण धारण करना, पुंजनी में दण्डी रखना ये बातें भी साध्वियों के लिये निषिद्ध हैं। अष्टम अधिकार में मोक प्रतिमा का विचार है। नवम अधिकार में रात में रहे हुए आहार के सेवन का निषेध है। लेप भी रात में

रक्खा हुआ गाढ कारण बिना निषिद्ध है। ऐसे वासी रक्खे हुए घृत आदि की मालिश भी निषिद्ध है। दशवें अधिकार में परिहार तप वाले के व्यवहार की विधि कही गई है। ११ वें अधिकार में कहा है कि निस्सार आहार पाकर साध्वी निर्वाह नहीं कर सके तो दूसरी वार भी भिक्षा को जाना कल्पता है।

षष्ठ उद्देश--प्रथम अधिकार में छः अवचन कहे हैं-जैसे १ हंसी आदि से झूठ बोलना, २ अवहेलना करना, ३ खिसलाने वाले वचन ४ कठोर वचन ५ गृहस्थ जैसे अपशब्द, ६ शान्त कलह को उत्तेजित करने वाले वचन ये अवाच्य हैं। दूसरे अधिकार में-हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, अपुरुषवचन और दास वचन रूप छः प्रायश्चित के स्थान कहे गये हैं। तीसरे अधिकार में चार सूत्रों से कहा गया है कि साधु साध्वी के पैर में कांटा, कील आदि लग जाय एवं आंख में रज कण या जन्तु गिर जाय और वे निकाल नहीं सके तो आवश्यकता से साधु का साध्वी तथा साध्वी का साधु निकाल सकते हैं।

किन्तु यह विशेष प्रसंग का सूत्र है। चौथे और पांचवें अधिकार में कहा है कि १२ कारणों से साधु साध्वी का स्पर्श करते हुए आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते। जैसे-दुर्गादि भूमि में साध्वी का पैर फिसलता हो, कीचड आदि में फिसलती हो, २ नौका पर चढती या उतरती हो, ३ भय आदि से विक्षिप्त चित्त हो, ४ कामादि से दीप्त चित्त हो, ५ भूतप्रेतादि वाधा से बेभान हो, ६ उन्मत्त हो, ७ उपसर्ग से व्याकुल हो, ८ क्रोध या कलह से अनुपशान्त हो, ९ प्रायश्चित से भयभीत हो १०, भक्त प्रत्याख्यान वाली हो ११ अर्थजात से चिन्तित हो १२, तो साधु पकड सकते एवं सहारा दे सकते हैं।

छट्ठे अधिकार में ६ बातें संयम को निस्सार बनाने वाली कही गई हैं। अन्त में कल्प की ६ स्थितियां बताई गई हैं। छद्मस्थ साधक के कल्पमात्र का इसमें समावेश कर दिया गया है।

बृहत्कल्पसूत्रस्यानुक्रमणिका

सूत्र

प्रथम उद्देशकः

द्वितीय उद्देशकः

तृतीय उद्देशकः

चतुर्थ उद्देशकः



पञ्चम उद्देशकः

षष्ठ उद्देशकः

॥ श्रीः ॥

॥ श्री बृहत्कल्प सूत्रं सटीकम् ॥

टीकाकारस्य मंगलविधानम्-

येषां सदागमविकाशविधौ विधित्सा,
जन्मादिभीतभविनामभयप्रदित्सा ।
जात्यादिमानमदमत्तजनेषुकुत्सा,
तीर्थङ्करास्त इह नो भुवि शङ्कराःस्युः॥ १॥
सतां कल्प्याऽकल्प्येप्रकृतिजनिते वस्तु निवहे,
निवृत्यै संशीतेः प्रवचनविदा कल्पितमिदम् ।
सुसूत्रं कल्पाख्यं विवृतिसहितं सल्लिपिमयं,
प्रकुर्वेऽसद्गर्वोलिपिकृतिकलायामचतुरः ॥२॥

मूल-नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीणं वा आमेतालपलंबे अभिण्णे य पडिग्गाहित्तए ॥ १ ॥

टीका-नोक०-नोकल्पते निग्गं०-निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा 'आमे' आमं ताल-प्रलम्बं अभिन्नं प्रतिग्रहीतुमिति योजना । अथ पदार्थः-नोकल्पते-नो समर्थौ

भवति न युज्यते इत्यर्थः निर्ग्रन्थानां-साधूनां, निर्ग्रन्थीनां-साध्वीनां किम् ?-आमं-अपक्वं-तालो-वृक्ष विशेषः तत्रभवं तालं-तालफलं, प्रकर्षेण-लंबते इति प्रलंबं, अभिन्नं-द्रव्यतोऽविदारितं, भावतोऽव्यपगतजीवं, किमित्याह-पडि०-प्रतिग्रहीतुम्-आदातुमितिपदार्थः । प्रलम्बं द्विधा-मूल प्रलम्बं ताल प्रलम्बं वा, मूल प्रलम्बं-डिड्डियादि, ताल प्रलम्बं-सल्लकी प्रभृतयः ॥ १ ॥

मूल—कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा आमे ताल पलंबे भिन्ने पडिगाहित्तए ॥ २ ॥

टीका—(कल्पन्ते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा आमानि-अपक्वानि ताल प्रलम्बानि-फलानि भिन्नानि-खंडशः कृतानि प्रतिग्रहीतुम्) कप्प०-अस्य व्याख्या प्राग्वत्, नवरं [1]भिन्ने-भिन्नं-भावतोव्यपगतजीवं, द्रव्यतो भिन्नमभिन्नं वा तृतीय चतुर्थ भंगवर्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

मूल—कप्पइ निग्गंथाणं पक्के ताल पलंबे भिन्ने वा अभिन्ने वा पडिगाहित्तए ॥ ३ ॥

नो कप्पइ निग्गंथीणं पक्के ताल पलंबे अभिन्ने पडिगाहित्तए ॥ ४ ॥

कप्पइ निग्गंथीणं पक्के ताल पलंबे भिन्ने पडिगाहित्तए, सेवि य विहि-भिन्ने, नो चेव-णं अविहि-भिन्ने ॥ ५ ॥

टीका—एतानि त्रीणि सूत्राणि समकमेव व्याख्यायन्ते—"कप्प०-कल्पते नि०-निर्ग्रन्थानां पक्के—पक्वं ताल प्रलम्बं द्रव्यतोभिन्नमभिन्नं वा प्रतिग्रहीतुम् ॥ ३ ॥ नो क०—नोकल्पते निर्ग्रन्थीनां प०-पक्वं ताल प्रलंबं अ०-अभिन्नं प०—प्रतिग्रहीतुम् ॥ ४ ॥ क०-कल्पते नि०—निर्ग्रन्थीनां पक्कं— पक्वं ताल प्रलम्बं भि०—द्रव्यतोभिन्नं प्रतिग्रहीतुं सेवि—तदपि वि०—विधिभिन्नं—विधिना वक्ष्यमाण लक्षणेन भिन्नं—विदारितं नो०— नचअविधिभिन्नं 'णं' वाक्यालङ्कारे ॥ ५ ॥

१—अविधिना विधिना च भिन्नस्य प्ररूपणा क्रियते तत्र यत्—चिर्भटादिकं विदार्य ऊर्द्ध्वफालिरूपाः पेशयः कृतं तद् ऋजुक भिन्नम्, यत्तु पेशयः कृत्वा पुनः श्लक्ष्णश्लक्ष्णतरादिभिः खण्डैरनेकशश्छित्वा तथा कृतं यथा भूयस्तदाकारं कर्तु न पार्यते, तदेवं विधं विषमकुट्टभिन्न मुच्यते, विषमैः—पुनस्तथा कर्तुमशक्यैः कुट्टैः—श्लक्ष्ण खण्डैर्भिन्नमिति व्युत्पत्तेः । एतच्च विधिभिन्नम् ।

अत्र चाऽविधिभिन्ने ते सर्वे दोषा द्रष्टव्या येऽभिन्ने देवीदृष्टान्तेन वर्णिताः ॥ १० । ५५ ॥

मूल--से गामंसि वा नगरंसि वा खेडंसि वा कब्बडंसि वा मडंबंसि वा पट्टणंसि वा आगरंसि वा दोणमुहंसि वा निगमंसि वा रायहाणिंसि वा आसमंसि वा संनिवेसंसि वा संबाहंसि वा घोसंसि वा अंसियंसि वा पुडभेयणंसि वा सपरिक्खेवंसि अबाहिरियंसि कप्पइ निग्गंथाणं हेमंत गिम्हासु एगं मासं वत्थए ॥ ६ ॥

टीका--से--से शब्दो मागधदेश प्रसिद्धः अथ शब्दार्थः, गा०--ग्रामेवा न०--नकरे वा खे०-खेटे वा क०--कर्वटे वा म०--मडंबे वा प० -पत्तने वा आ०--आकरे वा दो०--द्रोणमुखे वा नि०--निगमे वा रा०--राजधान्यां वा आ०- आश्रमे वा संनि०--संनिवेशे वा सं०- संबाधे वा घो०--घोषे वा अं०--अंशिकायां वा पु०--पुट भेदने वा गा०--यत्र गवादीनां कराः सन्ति (गम्यो गमनीयो वा, अष्टादशानां कराणामिति,ग्रसते वा बुद्ध्यादीन् गुणान् इति, ग्रामः) नास्ति--नविद्यतेऽत्राष्टादश-कराणामेकोऽपि करः इति नकरम्, खेटं-पुनर्धूलीप्राकारपरिक्षिप्तम् । कर्वटं तु क्षुनगरमुच्यते, मडम्बं नाम यत्सर्वतः--सर्वासुदिक्षुछिन्नं--अर्द्ध तृतीय गव्यूत मर्यादायामविद्यमान ग्रामादिकमिति भावः, अन्ये तु व्याचक्षते--यस्य पार्श्वतोऽर्द्ध तृतीय योजनान्तर्ग्रामादिकं न प्राप्यते तन्मडम्बम् । पत्तनं द्विधा जल पत्तनं स्थल पत्तनञ्च, यत्र जलपथेन नावादिवाहनारूढ़ भाण्डमुपैति तज्जल पत्तनं, यथा द्वीपम्। यत्र तु स्थल पथेन शकटादौ स्थापितं भाण्डमायाति तत्स्थलपत्तनं यथा आनन्दपुरम् । अथ आकरादयः यत्र पाषाणधातु धमनादिना लोहमुत्पाद्यते स अय आकरः, आदि शब्दात् ताम्ररूप्यका (प्या) द्याकर परिग्रहः । दो०--यस्तु जल पथेन स्थल पथेन च द्वाभ्यामपि प्रकाराभ्यां भाण्डमुपागच्छति तद् द्रोण मुखम् (द्वयोः पथोर्मुखमिति निरुक्त्या) उच्यते, तच्च भृगुकच्छं ताम्रलिप्तो वा । निगमं नाम यत्र नैगमाः--वाणिजकविशेषास्तेषां वर्गः--समूहो वसति, अतएव निगमे भवा नैगमा इति व्यपदिश्यते । यत्र नगरादौ राजा परिवसति सा राजधानी । आश्रमो--यः प्रथमतस्तापसादिभिरावासितः, पश्चादपरोऽपिलोकस्तत्र गत्वा वसति, नि०--निवेशो नाम--यत्र सार्थ आवासितः, आदिग्रहणेन ग्रामो वा अन्यत्र प्रस्थितःसन् यत्रान्तरावासमधिवसति, यात्रायां वा गतो लोको यत्र तिष्ठति एष सर्वोऽपि निवेशः । ('संबा० गाथा') सं०--संबाधोनाम--यत्र कृषीवल लोकोऽन्यत्र कर्षणंकृत्वा वणिग्वर्गो वा वाणिज्यं कृत्वा अन्यत्र पर्वतादिषु विषमेषु स्थानेषु

'संवोढुम्' इति कणादिकं समुह्य कोष्ठागारादौ च प्रक्षिप्य वसति (सः संबाधः)। तथा घो०--घोषस्तु गोकुलमभिधीयते। अं०--अंशिका--यत्र ग्रामस्यार्द्धम्, आदि शब्दात् त्रिभागो वा चतुर्भागो वा गत्वास्थितः सा ग्रामस्यांश एव अंशिका। (गा०-नाणा०) पुड०--नाना प्रकाराभ्यो दिग्भ्य आगतानां भाण्डानां--कुङ्कुमादीनां पुटा यत्र-विक्रयार्थं भिद्यन्ते तत् पुटभेदनम्-उच्यते। (केषाञ्चित्मतेन 'संकरंसि वा' इत्यधिकं पदं पठितव्यम्। सङ्करोनाम किञ्चिद् ग्रामोऽपि खेटमपि आश्रमोऽपीत्यादि) सपरि०-सपरिक्षेपे--वृत्त्यादिरूप परिक्षेपयुक्ते, अबा० 'अबाहिरिके--बहिर्भवा बाहिरिका [अध्यात्मादिभ्य इकण्, सिद्ध ६-३-७८ इति इकण् प्रत्ययः] प्राकार बहिर्वर्तिनी गृह पद्धतिरित्यर्थः, न विद्यते बाहिरिका यत्र तद् अबाहिरिकं तस्मिन् कल्पते निर्ग्रन्थानां 'हेमन्त ग्रीष्मेषु--ऋतु बद्ध काल सम्बन्धिषु अष्टसु मासेष्वित्यर्थः, एकं मासं वस्तुं-अवस्थातुम्, वा शब्दाः सर्वेऽपि विकल्पार्थाः स्वगतानेक भेद सूचका वा द्रष्टव्याः इति सूत्र समासार्थः।

मूल-सेगामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा सपरिक्खेवंसि सबाहिरियंसि कप्पइ निग्गंथाणं हेमंत-गिम्हासु दोमासे-वत्थए। अंतो एगं मासं, बाहिं एगं मासं। अंतोवसमाणाणं अंतोभिक्खायरिया, बाहिं वसमाणाणं बाहिंभिक्खायरिया ॥ ७ ॥

टीका-(अथ ग्रामे वा यावत् राजधान्यां वा वृत्त्यादिरूप-परिक्षेपयुक्ते सपरिक्षेपे) सबाहिरिके-प्राकारबहिर्वर्ति गृहपद्धतिरूपया बाहिरिकया सहिते कल्पते निर्ग्रन्थानां हेमन्त-ग्रीष्मेषु द्वौ मासौ वस्तुन्। कथमित्याह अन्तः-प्राकाराभ्यन्तरे एकं मासं, बहिः-बाहिरिकायामपि-एकं मासम्। अन्तर्वसतामन्तर्भिक्षाचर्या, बहिर्वसतां बहिर्भिक्षाचर्येति ॥ ७ ॥

मूल-से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा सपरिक्खेवंसि अबाहिरियंसि कप्पइ निग्गंथीणं हेमंत-गिम्हासु दोमासे वत्थए ॥८॥

टीका-अस्य व्याख्या प्राग्वत्। (अथ ग्रामे वा यावद् राजधान्यां वा सपरिक्षेपे) नवरम् (विशेषः) अबाहिरिकेक्षेत्रे कल्पते निर्ग्रन्थीनां हेमन्त ग्रीष्मेषु द्वौ मासौचरतुमिति। ८। २।

मूल–से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा सपरिक्खेवंसि सबाहिरियंसि कप्पइ निग्गंथीणं हेमंत–गिम्हासु चत्तारि मासे वत्थए,–अंतो दो मासे, बाहिं दो मासे, अंतो वसमाणीणं अंतोभिक्खायरिया बाहिं वसमाणीणं बाहिं भिक्खायरिया। ९। ४।

टीका–अस्य व्याख्या प्राग्वत्। (अथ ग्रामे वा यावत् राजधान्यां वा सपरिक्षेपे) न वरम् (विशेषः) सबाहिरिके क्षेत्रे–अन्तर्द्वौ मासौ बहिर्द्वौमासौ–इत्येवं चतुरो मासान् निर्ग्रन्थीनां वस्तुं कल्पते इति (अन्तर्वसन्तीनामन्तर्भिक्षाचर्या, बहिर्वसन्तीनां बहिर्भिक्षाचर्या)। ९। ४। वृत्तेरत्र प्रथमं खण्डं पूर्तिमगात्।

मूल–से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा एगवगड़ाए एग दुवाराए एग निक्खमणपवेसाए नो कप्पइ निग्गंथाण य निग्गंथीण य एगत्तओ वत्थए। १०।

टीका–से गामंसि०–से–अथ ग्रामे वा यावत् राजधान्यां वा यावत् करणात् नगरे वा खेडे वा इत्यादि पद परिग्रहः। एगवगड़ाके०–वगड़ो नाम परिक्षेपः पर्वत प्राकारादिः तेन एकेन परिक्षिप्तो ग्राम एकवगड़ इति उच्यते। एगदु०–एकद्वारे–एक निष्क्रमण प्रवेशके च क्षेत्रे न कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनाञ्च एकतो मिलितानां वस्तुम्–अवस्थातुम्–इति सूत्रार्थः॥ १०॥

मूल–से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा अभिणिवगड़ाए अभिणि दुवाराए वा अभिणिक्खमण पवेसाए कप्पइ निग्गंथाण य निग्गंथीण य एगत्त उवत्थए॥ ११॥

टीका–से गामंसिवा०–यावत् राजधान्यां वा अभिनिवगड़ाके "निपातानामनेकार्थत्वात्"–अभीत्यनेकानीति नियतावगड़ापरिक्षेपा यत्र तत् अभिनिवगडाकं तत्र, एवं अभिनिद्वारके–अभिनिष्क्रमण प्रवेशके च कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां–च वा एकंतो वस्तुम्–इति सूत्रार्थः॥ ११॥

मूल–नो कप्पइ निग्गंथीणं आवणगिहंसि वा रत्थामुहंसि वा सिंघाडगंसि वा तियं(क्कं)सि वा चउक्कंसि वा चच्चरंसि वा अंतरावणंसि वा वत्थए।१२।

टीका-नो कप्पइ निग्गंथीणं आव०-नो कल्पते निर्ग्रन्थीनां आपणगृहे वा, रथ्या मुखे वा, शृंगाटके वा, त्रिके वा पन्थचतुष्के वा चत्वरे वा, अन्तरापणे वा वस्तुमिति सूत्र संक्षेपार्थः ॥ १२ ॥

मूल—'कप्पइ निग्गंथाणं—आवणगिहंसि वा जाव अंतरावणंसि वा वत्थए ॥ १३ ॥

टीका--कप्पइ निग्गंथाणं०--अस्य व्याख्या प्राग्वत् (कल्पते निर्ग्रन्थानां आपण गृहे वा, रथ्यामुखे वा, शृंगाटके वा, त्रिके वा, चतुष्के वा, चत्वरे--महापथे वा—अनेके पन्थानः सम्मिलन्ति तत्र, अन्तरापणे वा वस्तुमिति ॥ १३ ॥

मूल---नो कप्पइ निग्गंथीणं अवंगुय दुवारिए उवस्सए वत्थए, एगं पत्थारं अंतो किच्चा—एगं पत्थारं बाहिं किच्चा—ओहाडिय चेलचिलमिलियागंसि एवं णं कप्पइ वत्थए ॥ १४ ॥

टीका--नो कप्पइ--नो कल्पते निर्ग्रन्थीनां--व्रतिनीनां अपावृतद्वारके--उद्घटितद्वारे उपाश्रये वस्तुम्। सकपाटोपाश्रयालाभे तु तत्राऽपि वसन्तीभिः इत्थं विधिर्विधेया--एकं प्रस्तारकं--कटं अन्तः--प्रतिश्रयाभ्यन्तरे कृत्वा एकं प्रस्तारं-कटं बहिः कृत्वा ततोऽवघाटित चेलचिलमिलिकाके--अवघाटिता बद्धा चिलमिलिका यत्रस तथा ईदृश उपाश्रये एवमनन्तरोक्तेन विधिना (णं) इति वाक्यालंकारे कल्पते वस्तुमिति सूत्र संक्षेपार्थः ॥ १४ ॥

मूल---कप्पइ निग्गंथाणं अवंगुय-दुवारिए उवस्सए वत्थए ॥१५॥

टीका--कप्पइ--कल्पते निर्ग्रन्थानां--अपावृत द्वारे उपाश्रये वस्तुमिति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥

मूल---कप्पइ निग्गंथीणं अंतोलित्तयं घडिमत्तयं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ १६ ॥

टीका--कप्पइ--कल्पते निर्ग्रन्थीनां--व्रतिनीनां अन्तर्लिप्तंघटिमात्रकं--घटी संस्थानं मृण्मय भाजन विशेषं धारयितुं वा परिहर्त्तुं वा। धारयितुं नाम स्वसत्तायां स्थापयितुम् परिहर्त्तुं--परिभोक्तुम एव सूत्रार्थः ॥ १६ ॥

मूल--नो कप्पइ निग्गंथाणं अंतोलित्तयं घडिमत्तयं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ १७ ॥

टीका-नोकप्पइ-अस्य व्याख्या पूर्ववत् (नो कल्पते निर्ग्रन्थानां अन्तर्लिप्त घटिमात्रकं धारयितुं वा परिहर्तुं वा) ॥ १७ ॥

मूल-कप्पइ-निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा चेल चिलमिलियं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ १८ ॥

टीका--कप्पइ-कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा चेल चिलमिलिका धारयितुं वा परिहर्तुं वा एष सूत्रार्थः, वस्त्र-रज्जु-कट-कल्क-दण्डभेदात् पञ्च विधां चिलमिलिकां वदन्ते तत्कथं सूत्रे चेलचिलमिलिकाया एव ग्रहणम् ? इत्याह-चेलन्तु वस्त्रं रज्वादीनां मध्ये बहुतरोपयोगित्वात् प्रधानतरम् तस्यैव सूत्रे ग्रहणं कृतम्, नान्यासां रज्जुचिलमिलिकादीनाम् ॥ १८ ॥

मूल-"नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा दगतीरंसिचिट्ठित्तए वा निसीइत्तए वा तुयट्टित्तए वा निदाइत्तए वा पयलाइत्तएवा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारं आहारित्तए वा उच्चारं वा पासवणं वा खेलं वा सिंघाणं वा परिट्ठवित्तए वा, सज्झायं वा करित्तए धम्म जागरियं वा जागरित्तए (झाणं वा झाइत्तए) काउस्सग्गं वा ठाणं वा ठाइत्तए ॥ १९ ॥

टीका-"नोकप्प०-नोकल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा दक तीरे-उदकोप कण्ठे स्थातुं वा-ऊर्द्ध्वस्थितस्यासितुं वा, निपत्तुं उपविष्टस्यस्थातुं, त्वग्वर्तयितुं वा दीर्घकायं प्रसारयितुं । निद्रापितं सुखप्रतिबोधावस्थया निद्रयाशयितुं प्रचलायितुं वा स्थितस्य स्वप्तुं [१]अशनं वा [२]पानं वा [३]खादिमं वा [४]स्वादिमं वा आहारयितुं वा, उच्चारं वा प्रस्रवणं वा खेलं वा, सिंघानं वा परिष्ठापयितुं वा स्वाध्यायं वा, वाचनादिकं कर्त्तुं धर्म जागरिकां वा धर्मध्यानलक्षणां जागरयितुं-कर्तुम, धातूनामनेकार्थत्वात् अत्र पाठान्तरम् । झाणं वा झाइत्तए-धर्मध्यानमनुसर्त्तुं इति कायोत्सर्गं वा चेष्टाभिभवभेदात् द्विविधकायोत्सर्ग लक्षणं स्थानं स्थातुं कर्त्तुं इत्येष सूत्रार्थः ॥ १९ ॥

मूल—नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सचित्त कम्मे उवस्सए वत्थए ॥ २० ॥

टीका--नो कप्प०—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा सचित्रकर्मणि--चित्रकर्मणासंयुक्ते उपाश्रये वस्तुम् ॥ २० ॥

मूल—कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा अचित्त कम्मे उवस्सए वत्थए ॥ २१ ॥

टीका—कप्प०—कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा अचित्र कर्मणि उपाश्रये वस्तुमिति सूत्रार्थः ॥ २१ ॥

मूल—नो कप्पइ निग्गंथीणं सागारिय–अणिस्साए वत्थए ॥२२॥

टीका—नो कप्प०–नोकल्पते निर्ग्रन्थीनां सागारिकाऽनिश्रया शय्यातरेणाऽपरिगृहीतानां वस्तुमिति ॥ २२ ॥

मूल—कप्पइ निग्गंथीणं सागारिय णिस्साए वत्थए ॥ २३ ॥

टीका—कप्प०—कल्पते निर्ग्रन्थीनां सागारिकनिश्रया– शय्यातरेणपरिगृहीतानां वस्तु एष-सूत्रार्थः ॥ २३ ॥

मूल—कप्पइ निग्गंथाणं सागारिय णिस्साए वा अणिस्साए वा वत्थए ॥ २४ ॥

टीका—कप्प०—कल्पते निर्ग्रन्थानां सागारिक निश्रया वा अनिश्रया वा वस्तुमिति ॥ २४ ॥

मूल—नो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा सागारिय उवस्सए वत्थए ॥ २५ ॥

टीका—नोकप्पइ—नोकल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा सागारिक द्रव्ये उपाश्रये—यत्र सागारिकस्य द्रव्यं वस्त्रालंकारादिकं तिष्ठति तत्र वस्तुमिति सूत्र संक्षेपार्थः ॥ २५ ॥

मूल—कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अप्पसागारिए उवस्सए वत्थए ॥ २६ ॥

टीका—कप्प०—इति सूत्रं सुगमम्—इदंसूत्रं वृत्तौ न दृश्यते (कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अल्पसागारिके उपाश्रये वस्तुम् ॥ २६ ॥

मूल—नो कप्पइ निग्गंथाणं इत्थीसागारिए उवस्सए वत्थए ॥२७॥

टीका—नो कप्पइ—इत्यादि- अस्यसूत्र चतुष्टयस्य व्याख्या—नो कल्पते–निर्ग्रन्थानां स्त्री सागारिके उपाश्रये वस्तुम् ॥ २७ ॥

मूल--कप्पइ निग्गंथाणं पुरिस सागारिए उवस्सए वत्थए ॥२८॥

टीका--कप्पइ-कल्पते निर्ग्रन्थानां पुरुष सागारिके उपाश्रये वस्तुम् ॥ २८ ॥

मूल-नो कप्पइ निग्गंथीणं पुरिस सागारिए उवस्सए वत्थए॥२९॥

टीका--नो कप्प०-नोकल्पते निर्ग्रन्थीनां पुरुप सागारिके उपाश्रये वस्तुम ॥२९॥

मूल-कप्पइ निग्गंथीणं इत्थि सागारिए उवस्सए वत्थए ॥३०॥

टीका--कप्पइ-कल्पते निर्ग्रन्थीनां स्त्री सागारिके उपाश्रये वस्तुमिति सूत्र चतुष्टयाक्षरार्थः ॥ ३० ॥

मूल-नो कप्पइ निग्गंथाणं पडिबद्धाए सेज्जाए वत्थए ॥३१॥

टीका--नो कप्पइ-नो कल्पते निर्ग्रन्थानां प्रतिबद्धशय्यायां-द्रव्यतो भावतश्च प्रतिबद्धे उपाश्रये वस्तुमिति सूत्रार्थः ॥ ३१ ॥

मूल-कप्पइ निग्गंथीणं पडिबद्धाए सेज्जाए वत्थए ॥३२॥

टीका--कप्पइ-अस्य व्याख्या प्राग्वत् (कल्पते निर्ग्रन्थीनां प्रतिबद्धायां शय्यायां वस्तुम्) ॥ ३२ ॥

मूल-नो कप्पइ निग्गंथाणं गाहावइ कुलस्स मज्झं मज्झे णं गंतु वत्थए ॥३३॥

टीका--नो कप्पइ-नो कल्पते निर्ग्रन्थानां गृहपति कुलस्य मध्ये मध्ये गत्वा यत्र निर्गम प्रवेशो क्रियते तत्र उपाश्रये वस्तुन्। उपलक्षणमिदम्-तेन गृहस्थाः यत्र संयतोपाश्रयस्य मध्ये मध्ये निर्गच्छन्ति प्रविशन्ति वा तत्राऽपि न कल्पते-वस्तुमिति सूत्रार्थः ॥ ३३ ॥

मूल-कप्पइ निग्गंथीणं गाहावइ कुलस्स मज्झं मज्झेणं गंतु वत्थए।३४।

टीका--कप्पइ-अस्य व्याख्या प्राग्वत् (कल्पते निर्ग्रन्थीनां) गाथापति कुलस्य मध्ये मध्येनगत्वा वस्तुम् ॥ ३४ ॥

मूल-भिक्खू य अहिगरणं कट्टु तं अहिगरणं अविओसवित्ता अविओसविय पाहुडे इच्छाए परो आढ़ाएज्जा, इच्छाए परो नो आढ़ाएज्जा, इच्छाए परो अब्भुट्ठेज्जा, इच्छाए परो नो अब्भुट्ठेज्जा, इच्छाए परो वंदेज्जा, इच्छाए परो नो वंदेज्जा, इच्छाए परो संभुजेज्जा, इच्छाए परो न

संभुजेज्जा, इच्छाए परो संवसेज्जा, इच्छाए परो नो संवसेज्जा, इच्छाए परो उवसमेज्जा इच्छाए परो नो उवसमेज्जा, जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा जो न उवसमइ तस्स नत्थि आराहणा, तम्हा अप्पणा चेव उवसमियव्वं। से किमाहु भंते! उवसम सारं खु सामन्नं ॥३५॥

टीका--भिक्खूय०--भिक्षुः--सामान्य साधुः च शब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात्-आचार्योपाध्यायावपि गृह्येते, अधिक्रियतेनरकगतिगमनयोग्यतांप्राप्यते-आत्माऽनेन इति अधिकरणम्,-कलहः प्राभृतमिति एकार्थाः, तत्कृत्वा तथाविध द्रव्य क्षेत्रादि साचिव्यात् पापवृंहि तत् कषाय मोहनीयोदयात् द्वितीय साधुना सह विधाय तत्-स्वयं अन्योपदेशेन वा परिभाव्य तस्यैहिकामुष्मिकापायवहुलं वा तदधिकरणं-विविधैः-अनेकप्रकारैः स्वापराधप्रतिपत्तिपुरस्सरं मिथ्या-दुष्कृत प्रदानेन अवशमय्य-उपशमं नीत्वा ततो विशेषेणावसायितं--अवसानानीतम् प्राभृतं--कलहो येन स व्यवसायित प्राभृतो उत्सृष्ट कलहो भवेत्, किमुक्तं भवति ? गुरु सकाशे स्वदुश्चरितमालोच्य तत्प्रदत्तं प्रायश्चित्तञ्च यथावत् प्रतिपद्यते यः तत् अकरणायाभ्युत्तिष्ठेत्--आह येन तदधिकरणं उत्पन्नं स यदि उपशाम्यमानोऽपि नोपशामयति ततः कोविधिरित्याह-इच्छाए परो०-इत्यादि सूत्रं-इच्छया यथा स्वरुच्या परं आद्रियते (प्रागिव संभाषणादिकमादरं कुर्यात् वा नवा इतिभावः) एवमिच्छयापरः तमभ्युत्तिष्ठेत्, इच्छया परो वन्देत् वा इच्छया परो न वन्देत, इच्छया परः तेन साधुना सह सम्भुञ्जीत-एक मण्डले भोजनादान ग्रहणं संभोगं वा कुर्यात, इच्छया परो न सम्भुञ्जीत, इच्छया परः तेन साधुना सह संवसेत्, सम्-एकीभूय एकत्र उपाश्रये वसेत्, इच्छयापरो न संवसेत्, इच्छया पर उपशाम्येत् इच्छया परः नोपशाम्येत् परं यः उपशाम्यति-कपायतापापगमेन निर्वृतोभवति तस्याऽस्ति सम्यक् दर्शनादीनामाराधना, यस्तु नोपशाम्यति तस्य नास्ति तेपामाराधना तस्मात्-एवं विचिन्त्य आत्मना एव उपशमितव्यम्-उपशमः कर्त्तव्यः। शिष्यः प्राह से किमाहु भंते ? अथ किमत्र कारणमाहुः भदन्त ? परं कल्याण योगिनः तीर्थंकरादयः, सूरिराह-उव०-उपशम सारं श्रामण्यं तस्मात् विहीनस्य निष्फलतया विधानात्, उक्तञ्च दशवैकालिक निर्युक्तौ "सामन्नमनुचरन्तस्स, कसाया जस्स उक्कडा होइ, मन्नामि उच्छु पुप्फं व निप्फलं तस्स-सामन्नं। इति सूत्रार्थः ॥ ३५ ॥

मूल—नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा वासावासासु चरित्तए ॥ ३६ ॥

टीका-नो कप्पइ-नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा वर्षोपलक्षिता वर्षा वर्ष-वर्षा तासु चरितुम ॥ ३६ ॥ ['चर, गति भक्षणयोरिति धातोर्गत्यर्थो गृह्यते'] ग्रामानुग्रामं पर्यटितुम्-इत्यर्थः। यद्वा भक्षणार्थोऽपि गृह्यते, तथाहिभक्षणं समुद्देशनं तच्च यथा ऋतुबद्धे साधूनां, तथा वर्षासु कर्तुं नो कल्पते। तदानीं हि चतुर्थभक्तादि प्रत्याख्यान परायणैर्भवितव्यम्। विकृतीनां चाऽभीक्ष्णग्रहणं न कर्तव्यमिति सूत्रार्थः॥ ३६ ॥

मूल—कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा हेमंत गिम्हासु चरित्तए ॥ ३७ ॥

टीका-कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा हेमन्त ग्रीष्मयोरष्टासु ऋतुबद्धमासेषु चरितुं-ग्रामानुग्रामं पर्यटितुम् इति सूत्रार्थः ॥ ३७ ॥

मूल—नो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा वेरज्ज विरुद्ध रज्जंसि सज्जं गमणं सज्जं आगमणं सज्जं गमणागमणं करित्तए। जो खलु निग्गंथो वा निग्गंथी वा वेरज्ज विरुद्ध रज्जंसि सज्जं गमणं सज्जं आगमणं सज्जं गमणागमणं करेइ, करं (रिं) तं वा साइज्जइ, से दुहओ वि वीतिक्कममाणे आवज्जइ, चाउम्मासियं परिहार ट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ ३८ ॥

टीका-नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा वैराज्यविरुद्ध राज्ये-यत्र राज्ये पूर्वपुरुष परम्परागतं वैरं तद् वैराज्यमुच्यते। यत्र तु वणिजां शेषजनपदस्य च निस्सञ्चारं कृतं-गमनागमन निषेधो विहितः, ततः वैराज्यविरुद्ध उच्यते, तत्र सद्यस्तत्कालंगमनम्, सद्य आगमनम्, सद्योगमनागमनं कर्तुम्, 'जो'-यः खलु निर्ग्रन्थो वा निर्ग्रन्थी वा वैराज्यविरुद्धराज्ये सद्योगमनं सद्य आगमनं, सद्योगमनागमनं करोति, कुर्वन्तं वा आस्वादयति--अनुमोदयति, स 'द्विधापि' तीर्थकृतां राज्ञश्च सम्बन्धिनीमाज्ञामतिक्रामन् आपद्यते प्राप्नोति चातुर्मासिकं परिहारस्थानमनुद्घातिकं चतुर्गुरुकमित्यर्थः, इति सूत्र संक्षेपार्थः ॥ ३८ ॥

मूल—निग्गंथं च णं गाहावइकुलं पिंडवाय पडियाए अणुप्पविट्ठं केई वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पाय-पुंछणेण वा उवनिमंतिज्जा,

कप्पइ से सागारकडं गहाय आयरियपायमूले ठवित्ता दोच्चंपि उग्गहं अणुण्णवित्ता परिहारं परिहरित्तए ॥ ३९ ॥

टीका-"निर्ग्रन्थं पूर्वोक्तशब्दार्थं च शब्दोऽर्थान्तरोपन्यासे, 'णं, इति वाक्यालङ्कारे, गृहस्य पतिः-स्वामी गृहपतिः, तस्य कुलं-गृहं 'पिण्डपात प्रतिज्ञया' पिण्डः-ओदनादिः, तस्य पातः-पात्रे प्रवेशः, तत्प्रतिज्ञया-तत्प्रत्ययमनुप्रविष्टं कश्चिद् उपासकादिर्वस्त्रेण वा प्रतिग्रहेण वा कम्बलेन वा पात्रप्रोञ्छनेन वा उपनिमन्त्रयेत्। वस्त्रं सौत्रिकमिहगृह्यते, प्रतिग्रहः-पात्रम्, कम्बलम्-और्णिकः कल्पः, पात्रशब्देन तु पात्रबन्ध पात्र केसरिका प्रभृतिकः पात्र निर्योगः, प्रोञ्छन शब्देन तु रजोहरणमुच्यते। आह च चूर्णिकृत्-"पायग्गहणेणं पायभंडयं गहियं। पुंछणं रयहरणंति।" ततश्च पात्रं च प्रोञ्छनं चेति पात्रप्रोञ्छनमिति समाहारद्वन्द्वः। एतैः उप-सामीप्ये आगत्य निमन्त्रयेत्। उपनिमन्त्रितस्य च 'से, तस्य निर्ग्रन्थस्य 'साकार कृतं', आचार्यसत्कमेतद्वस्त्रं न मम, अतो यस्मै ते दास्यन्ति, अन्यस्मै वा मह्यं वा, आत्मना वा परिभोदयन्ते, तस्यैतद्भविष्यति, इत्येवं सविकल्पवचन-व्यवस्थापितं सद्गृहीत्वा तत आचार्यपादमूले तद्वस्त्रं स्थापयित्वा यदि ते तस्यैव साधोः प्रयच्छन्ति, तदा द्वितीयमप्यवग्रहम्, एवं तावद् गृहस्थादवग्रहोऽनुज्ञापितो द्वितीयं पुनराचार्यपाद मूलादवग्रहमनुज्ञाप्य धारणा-परिभोगरूपं द्विविधमपि परिहारं तस्य वस्त्रस्य 'परिहर्तुं, धातूनामनेकार्थत्वाद् आचरितुं कल्पते, इति सूत्र संक्षेपार्थः ॥ ३९ ॥

मूल-निग्गंथं च णं बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खंतं समाणं केइ वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा उवनिमंतेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय आयरिय पायमूले ठवित्ता दोच्चंपि उग्गहमणुन्नवेत्ता परिहारं परिहरित्तए ॥ ४० ॥

टीका-"निग्गंथं च णं बहिया-अस्य व्याख्या प्राग्वत्, नवरं-'बहिः विचारभूमौ-संज्ञासु, विहार भूमौ वा स्वाध्यायभूमिकायाम् ॥ ४० ॥

मूल-"निग्गंथिं च णं गाहावइकुलं पिंडवाय पडियाए अणुप्पविट्ठं केइ वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा उवनिमंतेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय पवत्तिणि-पायमूले ठवित्ता दोच्चंपि उग्गहमणुण्णवित्ता परिहारं परिहरित्तए ॥ ४१ ॥

मूल—"निग्गंथिं च णं बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खंतिं समाणिं केइ वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा उव-निमंतेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय पवत्तिणि पायमूले ठवेत्ता दोच्चं-पि उग्गहमणुण्णवित्ता परिहारं परिहरित्तए ॥ ४२ ॥

टीका—सूत्र द्वयस्याऽपि व्याख्या प्राग्वत् ॥ ४१-४२ ॥

मूल—नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा राओ वा वियाले वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा पडिगाहित्तए ॥ ४३ ॥

टीका—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा रात्रौ वा विकाले वा 'अशनं वा, ओदनादि 'पानं वा, आयामादि, 'खादिमं वा' फलादि 'स्वादिमं वा' शुण्ठ्यादि प्रतिग्रहीतुमिति सूत्राक्षरार्थः ॥ ४३ ॥

मूल—नऽन्नत्थ एगेणं पुव्वपडिलेहिएणं सेज्जासंथारएणं ॥ ४४ ॥

टीका—योऽयमुपर्युक्तः प्रतिषेधः स एकस्मात् पूर्व प्रत्युपेक्षितात्–शय्या संस्तारका-दन्यत्र। इहाऽन्यत्र शब्दः परिवर्जनार्थः। यथा–अन्यत्र द्रोणभीष्माभ्यां सर्वेयोधाः पराङ्मुखाः। द्रोण भीष्मौवर्जयित्वा, इत्यर्थः। ततश्चैकं शय्यासंस्तारकं (पूर्व प्रति लेखितं–दिवा दृष्टं) विहायाऽपरं किमपि रात्रौ ग्रहीतुं न कल्पते। इति सूत्र संक्षे-पार्थः ॥ ४४ ॥

मूल—नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा राओ वा वियाले वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पडिगाहित्तए ॥ ४५ ॥

टीका—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा रात्रौ वा विकाले वा वस्त्रं वा प्रतिग्रहं वा कम्बलं वा पादप्रोञ्छनं वा प्रतिग्रहीतुमिति सूत्राक्षर गमनिका ॥ ४५ ॥

मूल—नऽन्नत्थ एगाए हरियाहडियाए। सावि य परिभुत्ता वा धोया वा रत्ता वा घट्ठा वा मट्ठा वा संपधूमिया वा ॥ ४६ ॥

टीका—न कल्पते रात्रौ वस्त्रादिकं ग्रहीतुं इत्युक्तम्। अन्यत्रैकस्या हृताहृतिकाया हरिताऽऽहृतिकाया वा। तत्र पूर्वहृतं पश्चादाहृतम्–आनीतं वस्त्रं हृताहृतम्, तदेव हृताहृतिका स्वार्थे क प्रत्ययः। अतिवर्तन्ते स्वार्थिक प्रत्ययाः प्रकृत -लिङ्ग वचनानि, इति

वचनात् अत्र रूढ़ितः स्त्रीलिङ्ग निर्देशः। एवं हरितेषु-वनस्पतिष्वाहृतं हरिताहृतं वस्त्रम्, तदेव हरिताहृतिका। सापिच हृताहृतिका 'परिभुक्ता' परिधानादौ व्यापारिता 'धौता' अप्कायेन प्रक्षालिता 'रक्ता' विचित्रवर्णकैरुपरञ्जिता घृष्टा घट्टकादिना घट्टिता, 'मृष्टा' सुकुमारीकृता 'सम्प्रधूमिता' धूपद्रव्येण समन्ततः प्रकर्षेण धूपिता। वा शब्दाः सर्वेऽपि विकल्पार्थाः। एवं विधापि सा स्वीकर्तव्या, न पुनरसाधु प्रायोग्या कृतेति कृत्वा परिहर्तव्येति सूत्रार्थः॥ ४६॥

मूल—नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा राओ वा वियाले वा अद्धाण गमणं एत्तए॥ ४७॥

टीका—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा रात्रौ वा विकाले वा अध्वगमनम् एतु'-गन्तुमितिसूत्रार्थः॥ ४७॥

मूल-(नो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा) संखडिं वा संखडि पडियाए एत्तए॥ ४८॥

टीका--संखडिं वा, इति वा शब्दात् "न कल्पते" इत्यादि पदान्यनुवर्तनीयानि। तद्यथा--न केवलमध्वानं रात्रौ वा विकाले वा गन्तुं न कल्पते किन्तु संखडिमपि रात्रौ वा विकाले वा सङ्खडिप्रतिज्ञया 'एतुं' गन्तुं न कल्पते। एष सूत्रसंक्षेपार्थः। (सम्-इति सामस्त्येन खण्ड्यन्ते-त्रोट्यन्ते जीवानां-वनस्पतिप्रभृतीनामायूंपि प्राचुर्येण यत्र प्रकरणविशेषे सा खलु सङ्खडिरित्युच्यते, तां सङ्खडिं 'तत्प्रतिज्ञया' सङ्खडिमपि गन्तुं न कल्पते)॥ ४८॥

मूल—नो कप्पइ निग्गंथस्स एगाणियस्स राओ वा वियाले वा बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा। कप्पइ से अप्पबिइयस्स वा अप्पतइयस्स वा राओ वा वियाले वा बहिया वियार भूमिं वा विहार भूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा॥ ४९॥

टीका-नो कल्पते निर्ग्रन्थस्य साधोरेकाकिनो रात्रौ वा विकाले वा बहिर्विचारभूमिं वा विहारभूमिं वा उद्दिश्य प्रतिश्रयाद् निष्क्रमितुं वा प्रवेष्टुं वा। कल्पते से-

तस्य निर्ग्रन्थस्यात्मद्वितीयस्य वा आत्मतृतीयस्य वा रात्रौ वा विकाले वा बहिर्विचार भूमिं वा विहार भूमिं वा निष्क्रमितुं वा प्रवेष्टुं वेति सूत्र समासार्थः ॥ ४६ ॥

मूल–नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए राओ वा वियाले वा बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा। कप्पइ से अप्प बिइयाए वा अप्पतइयाए वा अप्प चउत्थीए वा राओ वा वियाले वा बहिया वियार भूमिं वा विहार भूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥ ५० ॥

टीका–अस्य सूत्रस्य व्याख्या प्रागवत, नवरं केवलं प्रमाणे निर्ग्रन्थेभ्यो निर्ग्रन्थीनां नानात्वम्। निर्ग्रन्थानां द्वयोस्त्रयाणां वा निर्गन्तुं कल्पते। निर्ग्रन्थीनान्तु द्वयोस्तिसृणां चतसृणां वा इत्ययं संख्याकृतो विशेषः। ये च स्तेनाऽऽरक्षिकादयो दोषाः पूर्व सूत्रे यतीनामेकाकिनिर्गमने प्रोक्ताः। त एवार्याणामपि सविशेषतरास्तरुणाद्युपद्रवसहिता मन्तव्याः ॥ ५० ॥

मूल–कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पुरत्थिमेणं जाव अंगमगहाओ एत्तए, दक्खिणेणं जाव कोसंबीओ एत्तए, पच्चत्थिमेणं जाव थूणा विसयाओ एत्तए, उत्तरेणं जाव कुणाला विसयाओ एत्तए, एताव ताव कप्पइ। एताव ताव आरिए खेत्ते। णो से कप्पइ एत्तोबाहिं। तेण परं जत्थ नाण दंसण चरित्ताइं उस्सप्पंतित्तिबेमि ॥ ५१ ॥ कप्पे पढमो उद्देसो।

टीका–कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा पूर्वस्यां दिशि यावदङ्गमगधान् एतुं–विहर्तुम्। अङ्गो नाम चम्पा प्रतिबद्धो जनपदः। मगधो राजगृह प्रतिबद्धोजनपदः। दक्षिणस्यां दिशि यावत् कौशाम्बीमेतुम्। प्रतीच्यां दिशि स्थूणाविषयंयावदेतुम्। उत्तरस्यां दिशि कुणाला विषयं यावदेतुम्। [सूत्रे पूर्व दक्षिणादिपदेभ्यस्तृतीया निर्देशो लिङ्गव्यत्ययश्च प्राकृतत्वात्] एतावत् तावत् क्षेत्रमवधीकृत्य विहर्तुं कल्पते। कुतः ? इत्याह–एतावत् तावत् यस्मादार्यक्षेत्रम्। नो 'से, तस्य निर्ग्रन्थस्य निर्ग्रन्थ्या वा कल्पते 'अतः, एवंविधादार्यक्षेत्राद्बहिर्विहर्तुम्। ततः परं बहिर्देशेषु "अपि

वचनात् अत्र रूढितः स्त्रीलिङ्ग निर्देशः। एवं हरितेषु-वनस्पतिष्वाहृतं हरिताहृतं वस्त्रम्, तदेव हरिताहृतिका। सापिच हृताहृतिका 'परिभुक्ता' परिधानादौ व्यापारिता 'धौता' अप्कायेन प्रक्षालिता 'रक्ता' विचित्रवर्णैरुपरञ्जिता घृष्टा घट्टकादिना घट्टिता, 'मृष्टा' सुकुमारीकृता 'सम्प्रधूमिता' धूपद्रव्येण समन्ततः प्रकर्षेण धूपिता। वा शब्दाः सर्वेऽपि विकल्पार्थाः। एवं विधापि सा स्वीकर्तव्या, न पुनरसाधु प्रायोग्या कृतेति कृत्वा परिहर्तव्येति सूत्रार्थः ॥ ४६ ॥

मूल—नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा राओ वा वियाले वा अद्धाण गमणं एत्तए ॥ ४७ ॥

टीका—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा रात्रौ वा विकाले वा अध्वगमनम् एतुं-गन्तुमितिसूत्रार्थः ॥ ४७ ॥

मूल—(नो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा) संखडिं वा संखडि पडियाए एत्तए ॥ ४८ ॥

टीका—संखडिं वा, इति वा शब्दात् "न कल्पते" इत्यादि पदान्यनुवर्तनीयानि। तद्यथा—न केवलमध्वानं रात्रौ वा विकाले वा गन्तुं न कल्पते किन्तु संखडिमपि रात्रौ वा विकाले वा सङ्खडिप्रतिज्ञया 'एतुं' गन्तुं न कल्पते। एष सूत्रसंक्षेपार्थः। (सम्-इति सामस्त्येन खण्ड्यन्ते-त्रोट्यन्ते जीवानां-वनस्पतिप्रभृतीनामायूंषि प्राचुर्येण यत्र प्रकरणविशेषे सा खलु सङ्खडिरित्युच्यते, तां सङ्खडिं 'तत्प्रतिज्ञया' सङ्खडिमपि गन्तुं न कल्पते) ॥ ४८ ॥

मूल—नो कप्पइ निग्गंथस्स एगाणियस्स राओ वा वियाले वा बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा। कप्पइ से अप्पबिइयस्स वा अप्पतइयस्स वा राओ वा वियाले वा बहिया वियार भूमिं वा विहार भूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥ ४९ ॥

टीका—नो कल्पते निर्ग्रन्थस्य साधोरेकाकिनो रात्रौ वा विकाले वा बहिर्विचारभूमिं वा विहारभूमिं वा उद्दिश्य प्रतिश्रयाद् निष्क्रमितुं वा प्रवेष्टुं वा। कल्पते से-

अथ द्वितीय उद्देशः प्रारभ्यते-

मूल—"उवस्सयस्स अंतोवगडाए सालीणि वा वीहीणि वा मुग्गाणि वा मासाणि वा तिलाणि वा कुलत्थाणि वा गोधूमाणि वा जवाणि वा जवजवाणि वा उक्खित्ताणि वा विक्खित्ताणि वा विइकिन्नाणि वा विप्पकिन्नाणि वा, नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए ॥१॥

टीका—उपाश्रयस्य या 'अन्तर्वगडा, वगडाया-अभ्यन्तरम्' तच्च प्रतिश्रयमध्यं वा स्यात् प्राङ्गणं वा। तत्र 'सालीणि वत्ति शालिबीजानि वा, 'वीहीणिव' त्ति व्रीहिबीजानि वा, एवं मुद्ग-माष-तिल-कुलत्थ-गोधूम-[यव] यवयवैरपि तत्तद्बीजान्युच्यन्ते, यवयवाः-यव विशेषास्तद्बीजानि वा। एतानि बीजानि यत्रोपाश्रये उत्क्षिप्तानि वा विक्षिप्तानि वा, व्यतिकीर्णानि वा, विप्रकीर्णानि वा, तत्र नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा यथालन्दमपि वस्तुम्। इह यथालन्दं त्रिधा-जघन्यं मध्यमसुत्कृष्टं च। यावता कालेन उदकार्द्रोहस्तः शुष्यति तज्जघन्यम्। पञ्चरात्रिन्दिवान्युत्कृष्टम्। तयोरपान्तराले सर्वमपि मध्यमम्। अत्र जघन्य मध्यमयोः सूत्रावतारः। अपि शब्दः सम्भावनायाम्। जघन्यमपि मध्यममपि वा यथालन्दं नो कल्पते वस्तुम्, किम्पुनरुत्कृष्टम्? इति भावः। अत्र चोत्क्षिप्तादीनि पदानि भाष्यगाथयैव व्याख्यास्यन्त इति नात्र व्याख्यातानीति सूत्रसंक्षेपार्थः॥ १ ॥

मूल—अहपुण एवं जाणिज्जा-नो उक्खित्ताइं नो विक्खित्ताइं नो विइकिण्णाइं नो विप्पकिण्णाइं रासिकडाणि वा पुंजकडाणि वा भित्तिकडाणि वा कुलियाकडाणि वा लंछियाणि वा मुद्दियाणि वा पिहिताणि वा, कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा हेमंत गिम्हासु वत्थए ॥ २ ॥

टीका-अथ पुनरेवं जानीयात्-'तानिशाल्यादीनिबीजानि तत्रोपाश्रये नो उत्क्षिप्तानि, नो विक्षिप्तानि, नो विकीर्णानि, नो विप्रकीर्णानि, किन्तु राशीकृतानि वा, पुञ्जीकृतानि वा, भित्तिकृतानि वा, कुलिकाकृतानि वा, लाञ्छितानि वा, मुद्रितानि वा पिहितानि वा, तत एवं कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा, हेमन्त-ग्रीष्मेषु वस्तुमिति सूत्र संक्षेपार्थः ॥ २ ॥

मूल—अहपुण एवं जाणिज्जा—नो रासिकडाइं नो पुंजकडाइं नो भित्तिकडाइं नो कुलियकडाइं कोट्ठाउत्ताणि वा पल्लाउत्ताणि वा मंचाउ-त्ताणि वा माला उत्ताणि वा ओलित्ताणि वा लित्ताणि वा पिहियाणि वा लंछियाणि वा मुद्दियाणि वा कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा वासावासं वत्थए ॥ ३ ॥

टीका-अथ पुनरेवं जानीयात्-नो राशीकृतानि नो पुञ्जीकृतानि नो भित्तिकृतानि नो कुलिकाकृतानि, कोष्ठागुप्तानि वा पल्यागुप्तानि वा, मञ्चा गुप्तानि वा, माला-गुप्तानि वा अवलिप्तानि वा लिप्तानि वा पिहितानि वा लाञ्छितानि वा मुद्रितानि वा। तत्र कोष्ठे-कुशूले आगुप्तानि-प्रक्षिप्यरक्षितानि कोष्ठाऽऽगुप्तानि । एवमुत्तर-त्रापि भावनीयम् । नवरं-'पल्यं-वंशकटकादिकृतो धान्याऽऽधारविशेषः, मञ्चः-स्थूणानामुपरिस्थापित वंशकादिमयो लोकप्रसिद्धः, मालकः-गृहस्योपरितनोभागः, 'अवलिप्तानि, नाम द्वारदेशे पिधानेन सह गोमयादिना कृतोपलेपानि, लिप्तानि-मृत्तिकया सर्वतः खरण्टितानि, पिहितानि-स्थगितानि 'लाञ्छितानि-रेखाऽक्षरा-दिभिः कृतलाञ्छनानिमुद्रितानि, मृत्तिकादिमुद्रायुक्तानि । एवं विधेषु धान्येषु कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा वर्षावासं वस्तुमिति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥

मूल—"उवस्सयस्स अंतोवगडाए सुरावियडकुंभे वा सोवीरय वियड-कुंभे वा उवनिक्खित्ते सिया, नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए । हुरत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे नो लभेज्जा, एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए । जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परंवसइ से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥ ४ ॥

टीका-सुराविकटं-पिष्टनिष्पन्नम्, सौवीरक विकटंतु-पिष्टवर्ज्जैर्गुडादिद्रव्यैर्निष्पन्नम्। ततः सुरा विकटकुम्भो वा सौवीरक विकटकुम्भो वा यत्रोपाश्रयस्याऽन्तर्वगडायामु-

पनिक्षिप्तः स्यात्-तत्र नोकल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा यथालन्दमपिकालं वस्तुम् 'हुरत्था य, त्ति देशीपदं बहिरर्थाभिधायकम् । च शब्दो वाक्यभेदद्योतकः, ततोऽयमर्थः-अथ बहिरन्योपाश्रयं प्रत्युपेक्षमाणोऽपि नो लभेत, ततएवं "से" तस्य साधोः कल्पते एकरात्रं वा द्विरात्रं वा तत्र वस्तुम् । यस्तत्रैकरात्राद्वा द्विरात्राद्वा 'परम, ऊर्ध्वं व वसति 'से' तस्य संयतस्य, स्वान्तरात, स्वकृतं यदन्तरं-त्रिरात्र-चतूरात्रादिकालावस्थानरूपं तस्मात् 'छेदो' वा पञ्चरात्रिन्दिवादिः, 'परिहारो, वा म.सलघुकादिस्तपोविशेषो भवतीति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥

मूल—उवस्सयस्स अंतोवगडाए सीओदग वियडकुंभे वा उसिणोदग वियडकुंभे वा उवनिक्खित्ते सिया, नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए । हुरत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे नो लभेज्जा, एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए । जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥ ५ ॥

टीका-अस्य व्याख्या पूर्ववत्, नवरं-विकृतं-शीतोष्णादि शस्त्रेण विकारं प्रापितं, प्राशुकीकृतमित्यर्थः । शीतोदकं च तद् विकृतं च शीतोदक विकृतं तस्य कुम्भः-घटः । एवमुष्णोदक विकृतकुम्भोऽपि ॥ ५ ॥

मूल—उवस्सयस्स अंतोवगडाए सव्वराइए जोई झियाएज्जा, नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए । हुरत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे नो लभेज्जा, एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए । जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥ ६ ॥

टीका-व्याख्या प्राग्वत्, नवरं सार्वरात्रिकं 'ज्योतिः, अग्निर्यत्रोपाश्रये 'ध्यायेत्', धातूनामनेकार्थत्वात् प्रज्वलेत् तत्र साधु साध्वीनां वस्तुं न कल्पते ॥ ६ ॥

मूल—उवस्सयस्स अंतोवगडाए सव्वराइए पईवे दिप्पेज्जा, नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए । हुरत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे नो लभेज्जा, एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए । जे तत्थ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वसइ से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥ ७ ॥

टीका-व्याख्यानं ज्योतिःसूत्रवत् ॥ ७ ॥

मूल—उवस्सयस्स अंतोवगडाए पिंडए वा लोयए वा खीरे वा दहिं वा नवणीए वा सप्पि वा तेल्ले वा फाणियं वा पूवे वा सक्कुली वा सिहरिणी वा उक्खित्ताणि वा विक्खित्ताणि वा विइकिन्नाणि वा विप्पइन्नाणि वा, नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए॥८॥

टीका-उपाश्रयस्यान्तर्वगडायां पिण्डको वा, लोचकं वा, क्षीरं वा, दधि वा, नवनीतं वा, सर्पिर्वा, तैलं वा, फाणितं वा, पूपं वा, शष्कुलिका वा, शिखरिणी वा, एतान्युत्क्षिप्तानि वा, विक्षिप्तानि वा, व्यतिकीर्णानि वा, विप्रकीर्णानि वा भवेयुः, नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा यथालन्दमपि वस्तुमिति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥

मूल—अह पुण एवं जाणेज्जा—'नो उक्खित्ताइं नो विक्खित्ताइं नो विइकिण्णाइं नो विप्पकिण्णाइं रासिकडाणि वा पुंजकडाणि वा भित्तिकडाणि वा कुलिया कडाणि वा लंछियाणि वा मुद्दियाणि वा पिहियाणि वा कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा हेमंत गिम्हासु वत्थए ॥ ९ ॥

टीका-अस्य व्याख्या प्राग्वत्, नवरं यत्र पिण्डादीनि राशीकृतादिरूपाणि तत्र गीतार्थानां कल्पते ऋतुबद्धे वस्तुमिति सूत्रहृदयम् ॥ ९ ॥

मूल—अह पुण एवं जाणिज्जा—'नो रासिकडाइं जाव नो भित्तिकडाइं कोट्ठाउत्ताणि वा पल्लाउत्ताणि वा मंचाउत्ताणि वा मालाउत्ताणि वा ओलित्ताणि वा विलित्ताणि वा कुंभिउत्ताणि वा करभिउत्ताणि वा लंछियाणि वा मुद्दियाणि वा पिहियाणि वा कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा वासावासं वत्थए ॥ १० ॥

टीका-अस्य व्याख्या प्राग्वत्, नवरं-कुम्भी-मुखाऽऽकारा कोष्ठिका, करभी-घट संस्थान संस्थिता, तयोरागुप्तानि-प्रक्षिप्य रक्षितानि कुम्भ्या गुप्तानि, करभ्या गुप्तानि वा ॥ १० ॥

मूल—नो कप्पइ निग्गंथीणं अहे आगमणगिहंसि वा वियडगिहंसि वा वंसीमूलंसि वा रुक्खमूलंसिवा अब्भावगासियंसि वा वत्थए ॥ ११ ॥

टीका-इह निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थीनां सामान्यतः सदोषा उपाश्रया उक्ताः । अथ केवलानामेव निर्ग्रन्थीनामभिधीयन्ते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या-अधः

शब्द इह अवशब्दार्थे। पथिकादीनामागमनेनोपेतं तदर्थं वा गृहमागमनगृहम्। विवृतम्-अनावृतं गृहं विवृतगृहम्। वंसीमूलं नाम-गृहाद् बहिः स्थितमलन्दकादिकम्। वृक्षमूलं तु वृक्षस्य-सहकारादेर्मूलम्-अधोभागः। अभ्राकाशमाकाशमुच्यते। एतेषु प्रतिश्रयेषु-निर्ग्रन्थीनां वस्तुं न कल्पते, इति सूत्र संक्षेपार्थः॥ ११॥

मूल—कप्पइ निग्गंथाणं अहे आगमणगिहंसि वा वियडगिहंसि वा वंसीमूलंसि वा रुक्खमूलंसि वा अब्भावगासियंसि वा वत्थए॥ १२॥

टीका—अस्य प्राग्वद् व्याख्या॥ १२॥

मूल—एगे सागारिए पारिहारिए—दो तिन्नि चत्तारि पंच सागारिया पारिहारिया, एगं तत्थ कप्पागं ठवयित्ता अवसेसे निव्विसेज्जा॥ १३॥

टीका—एकः सागारिकः-वसतिस्वामी परिहारं-परित्यागमर्हतीति व्युत्पत्त्या पारिहारिकः, भिक्षाग्रहणे परिहर्तव्य इत्यर्थः। यथा चैकः सागारिकः पारिहारिकः तथा द्वौ त्रयश्चत्वारः पञ्चसागारिकाः पारिहारिकाः, न तेषांबहूनामपि गृहेषु प्रवेष्टव्यमितिभावः। अथ सूत्रेणैव सूत्रमपवदति-एगं तत्थ कप्पागं, इत्यादि। बहुजनसाधारणे देवकुलादौ स्थिताः 'तत्र, तेषु बहुषु सागारिकेषु मध्ये येन सागारिकतया स्थापितेन शेषगृहेषु प्रवेष्टुं कल्पते, तमेकं कल्पकं स्थापयित्वा शेषेषु सागारिककुलेषु निर्विशेयुः-प्रविशेयुरिति सूत्र संक्षेपार्थः॥ १३॥

मूल—नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सागारियपिंडं बहिया अनीहडं असंसट्ठं वा संसट्ठं वा पडिग्गाहित्तए॥ १४॥

टीका—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा सागारिक पिण्डं बहिर्वाटकात् अनिर्हृतम्, अनिष्क्रामितम् 'असंसृष्टं' वा अन्यदीय पिण्डैः सहाऽऽमीलितं, संसृष्टं वा अन्यदीयपिण्डैः समं मीलितं प्रतिग्रहीतुमिति सूत्रार्थः॥ १४॥

मूल—"नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सागारियपिंडं बहिया नीहडं असंसट्ठं पडिग्गाहित्तए। कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सागारियपिंडं बहिया नीहडं संसट्ठं पडिग्गाहित्तए॥ १५॥

टीका-अस्य व्याख्या प्राग्वत्। नवरं सागारिक पिण्डो वाटकाद् बहिर्निष्क्रामितोऽपि 'असंसृष्टः' अन्यपिण्डैः सममर्मीलितो न कल्पते संसृष्टस्तु कल्पते इति।

मूल—"जो खलु निग्गंथो वा निग्गंथी वा सागारियपिंडं बहिया

नीहडं असंसट्ठं संसट्ठं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ, से दुहओ वीइक्कममाणे आवज्जइ चाउम्मासिअं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ १६ ॥

टीका–यः खलु निर्ग्रन्थो निर्ग्रन्थी वा सागारिक पिण्डं वहिर्निर्गतमसंसृष्टं संसृष्टं करोति कुर्वन्तं वा स्वादयति–कारयति कुर्वन्तमनुमन्यते वेत्यर्थः, स 'द्विधा, लौकिक लोकोत्तरिकभेदाद् द्विप्रकारां मर्यादां व्यतिक्रामन् आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानमनुद्घातिकम्, चतुरो गुरुमासानित्यर्थः । एष सूत्र संक्षेपार्थः ॥ १६ ॥

मूल—"सागारियस्स आहडिया सागारिएण पडिग्गहिया, तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए । सागारियस्स आहडिया सागारिएण अपडिग्गहिया, तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥ १७ ॥

टीका–'आहृतिका, प्रहेणकं सा सागारिकस्य गृहे कुतोऽपि गृहान्तरादागता, सा च सागारिकेण 'प्रतिगृहीता, स्वीकृता 'ततः तस्या मध्यात् दद्यात्, नो 'से, तस्य साधोः कल्पते प्रतिग्रहीतुम् । सागारिकस्याहृतिका सागारिकेण 'अप्रतिगृहीता, न स्वीकृता तस्या मध्यात् दद्यादेवं 'से, तस्य साधोः कल्पते प्रतिग्रहीतुमिति सूत्र संक्षेपार्थः ॥ १७ ॥

मूल—"सागारियस्स नीहडिया परेण अपडिग्गहिता, तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए । सागारियस्स नीहडिया परेण पडिग्गहिया, तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥ १८ ॥

टीका–'व्याख्या प्राग्वत्, नवरं सागारिक द्रव्यं यदन्यत्रनीयते सा निर्हृतिकेत्युच्यते । सा यस्य समीपे प्रेषिता तेनाऽप्रतिगृहीता न कल्पते प्रतिगृहीता तु कल्पते ॥ १८ ॥

मूल—"सागारियस्स अंसियाओ अविभत्ताओ अव्वोच्छिन्नाओ अव्वोगडाओ अनिज्जूढाओ, तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए । सागारियस्स अंसियाओ विभत्ताओ वोछिन्नाओ वोगडाओ निज्जूढाओ, तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ १९ ॥

टीका–सागारिकस्य या अंशिका तस्या अन्येषामंशिकाभ्योऽविभक्ताया अव्यवच्छिन्नाया अव्याकृताया अनिर्गूढाया मध्यात् कश्चिद्भक्तपानं दद्यात्, नो से–तस्य साधोः कल्पते प्रतिग्रहीतुम् । सागारिकस्यांऽशिका विभक्ता व्यवच्छिन्ना व्याकृता

निर्गूढा च यस्माद् राशेर्भवति तस्माद् दद्याद्, एवं 'से, तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुमिति सूत्र संक्षेपार्थः ।। १६ ॥

मूल—"सागारियस्स पूयाभत्ते उद्देसिए चेइए पाहुडियाए, सागारियस्स उवगरणजाए निट्ठिए निसट्ठे पाडिहारिए, तं सागारिओ देज्जा सागारियस्स परिजणो देज्जा, तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए॥२०॥

व्याख्या—सागारिकस्य ये पूज्याः-स्वामिकलाचार्यादयः, तदर्थं भक्तम्-अशनादि पूज्यभक्तम्, तच्चोद्देशः-सङ्कल्पः तेन निर्वृत्तमौद्देशिकम्, तानेव पूज्यानुद्दिश्य कृतमित्यर्थः। ततस्तेषामेव प्राभृतिकायां चेतितं ढौकनीकृतम् उपनीतमितिभावः। तथा सागारिकस्य उपकरणजातं वस्त्र कम्बलादिकं पूज्यानामर्थाय 'निष्ठितम्, निष्पादितम्। ततः 'निसृष्ट', पूज्येभ्यः प्रदत्तम्। 'तच्च, भक्तमुपकरणं वा तेभ्यः प्रातिहारिकं दत्तम्, भुक्तावशेषं सदिदं भूयोऽप्यस्माकं प्रत्यर्पणीयमिति भावः। तद् एवं प्रकारं संयतानां सागारिको वा दद्यात्, सागारिकस्य परिजनो वा दद्यात् किंकल्पते ? नवा ? इत्याह-'तस्मात् पूज्यभक्तात् पूज्योपकरणाद्वा प्रातिहारिकाद् दद्यात्, परं न कल्पते प्रतिग्रहीतुमिति सूत्रार्थः ॥ २० ॥

मूल—"सागारियस्स पूयाभत्ते उद्देसिए चेइए जाव पाडिहारिए, तं नो सागारिओ देज्जा नो सागारियस्स परिजणो देज्जा, सागारियस्स पूया देज्जा, तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥ २१ ॥

व्याख्या-प्राग्वत् नवरम्-अत्र न सागारिको न वा सागारिकस्य परिजनोदद्यात् किन्तु सागारिकस्य 'पूज्यः, सम्बन्धि स्वाम्यादिर्दद्यात्, तथापि न कल्पते, प्रातिहारिकतया दत्तमिति कृत्वा सागारिक पिण्डत्वात् ॥ २१ ॥

मूल—"सागारियस्स पूयाभत्ते उद्देसिए चेइए पाहुडियाए सागारियस्स उवगरणजाए निट्ठिए निसट्ठे अपाडिहारिए तं सागारिओ देइ सागारियस्स परिजणोदेइ तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥२२॥

टीका-अयमप्रातिहारिकतया सागारिक पिण्डो न भवति, परं सागारिकस्तत्परिजनो वा ददातीति कृत्वा प्रक्षेपकादि दोष सद्भावान्न कल्पते ॥ २२ ॥

मूल—"सागारियस्स पूयाभत्ते जाव अपाडिहारिए, तं नो सागारि-

ओदेइ, नो सागारियस्स परिजणो देइ सागारियस्स पूयादेइ, तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ २३ ॥

टीका-अत्र सागारिकेणादृष्टं तत्पूज्योऽप्रातिहारिकं ददातीति कल्पते, परं द्वितीय-पदे, नोत्सर्गतः ॥ २३ ॥

मूल—"कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा इमाइं पंच वत्थाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा, तं जहा जंगिए भंगिए साणए पोत्तए तिरी-डपट्टे नामं पंचमे ॥ २४ ॥

टीका-कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा इमानि पञ्चवस्त्राणि धारयितुं वा परिग्रहे धर्तुं परिहर्तुं वा परिभोक्तुम्। तद्यथा जङ्गमाः-त्रसाः, तदवयव निष्पन्नं जाङ्गमिकम्, सूत्रे प्राकृतत्वाद्-मकारलोपः, भङ्गा-अतसीतन्मयं भाङ्गिकम्, सन-सूत्रमयं सानकम्, पोतकं, कार्पासिकम्-तिरीटः-वृक्षविशेषस्तस्य यः पट्टो वल्क-लक्षणस्तन्निष्पन्नं तिरीट पट्टकं नाम पञ्चमम्। एष सूत्र संक्षेपार्थः ॥ २४ ॥

मूल—"कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा इमाइं पंच रयहरणाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा, तं जहा—उण्णिए उट्टिए साणए वच्चा-चिप्पए मुंजचिप्पए नाम पंचमे ॥ २५ ॥ त्तिबेमि विइओ उद्देसओ ।

टीका-कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा इमानि पञ्चरजोहरणानि धारयितुं वा परिहर्तुं वा। 'तद्यथा, इति उपप्रदर्शनार्थः। औणिकम् ऊरणिकानामूर्णाभिर्नि-र्वृत्तम्, 'औष्ट्रिकं, उष्ट्ररोमभिर्निर्वृत्तम्, 'सानकं, सनवृक्ष वल्काद्जातम्, वच्चकः-तृणविशेषस्तस्य चिप्पकः-कुट्टितः-त्वग्रूपः तेन निष्पन्नं वच्चक चिप्पकम्, मुञ्जः-शरस्तम्बस्तस्य चिप्पकाद् जातं मुञ्जचिप्पकं नाम पञ्चममिति सूत्रार्थः ॥ २५ ॥

अथ तृतीय उद्देशः



मूल--"नो कप्पइ निग्गंथाणं निग्गंथीणं उवस्सयंसि चिट्ठित्तए वा निसीइत्तए वा तुयट्टित्तए वा निद्दाइत्तए वा पयलाइत्तए वा असणं वा ४ आहारं आहारित्तए, उच्चारं वा पासवणं वा खेलं वा सिंघाणं वा परिट्ठवित्तए, सज्झायं वा करित्तए, झाणं वा झाइत्तए, काउस्सग्गं वा ठाणं वा ठाइत्तए ॥ १ ॥

टीका--"नो कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनामुपाश्रये स्थातुं वा निषत्तुं वा त्वग्-वर्तयितुं वा निद्रायितुं वा प्रचलायितुं वा अशनं वा पानं वा खादिमं वा स्वादिमं वा चतुर्विधमप्याहारमाहर्त्तुम्, उच्चारं वा प्रस्रवणं वा खेलं वा सिंघाणं वा परिष्ठापयितुम्, स्वाध्यायं वा कर्तुम्, ध्यानं वा ध्यातुम्, कायोत्सर्गं वा स्थानं स्थातु-मिति सूत्रसंक्षेपार्थः ॥ १ ॥

मूल--नो कप्पइ निग्गंथीणं निग्गंथउवस्सयंसि चिट्ठित्तए वा जाव काउस्सग्गं वा ठाणं ठाइत्तए ॥ २ ॥

टीका--यथा निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थ्युपाश्रये गमनादिकं कर्तुं न कल्पते तथा तासा-मपि निर्ग्रन्थीनां यति निलये निर्ग्रन्थोपाश्रये निष्कारणे गमनादिकं कर्तुं न कल्पते। [एतदर्थप्रतिपादनार्थमिदंसूत्रमारभ्यते । अत्र च यत प्रायश्चित दोषजालादि-पूर्व सूत्रोक्तं 'यत्र' निष्कारणगमनादौ युज्यते तत्र तद् 'ज्ञेयं' स्वबुध्याऽभ्यूह्य ज्ञातव्यम्] ॥ २ ॥

मूल--नो कप्पइ निग्गंथीणं सलोमाइं चम्माइं अहिट्ठित्तए ॥ ३ ॥

टीका--नो कल्पते निर्ग्रन्थीनां सलोमानि चर्माणि 'अधिष्ठातुं' निषदनादिना परिभोक्तुमिति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥

मूल---कप्पइ निग्गंथाणं सलोमाइं चम्माइं अहिट्ठित्तए सेविय परिभुत्ते नो चेव णं अपरिभुत्ते, से विय पाडिहारिए नो चेव णं अप्पडिहारिए, से वि य एगराइए नो चेव णं अणेगराइए ॥ ४ ॥

टीका--कल्पते निर्ग्रन्थानां सलोमानि चर्माणि 'अधिष्ठातुं' परिभोक्तुम्। तत्रापि यच्चर्म परिभुक्तं तदेव ग्राह्यं नापरिभुक्तम्। तदपि च प्रातिहारिकं नाप्रातिहारिकम् तदपि चैकरात्रिकं नैवानेकरात्रिकमिति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥

मूल---नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा कसिणाइं चम्माइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ५ ॥

टीका--नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा कृत्स्नानि वर्णप्रमाणादिभिः प्रतिपूर्णानि चर्माणि धारयितुं वा परिहर्तुं वेति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥

मूल---कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अकसिणाइं चम्माइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ६ ॥

टीका--कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा [अकृत्स्नानि] चर्माणि धारयितुं वा परिहर्तुं वा इति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥

मूल--नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा कसिणाइं वत्थाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा। कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अकसिणाइं वत्थाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ७ ॥

टीका--"नो कप्पइ' त्ति आर्षत्वादेकवचनम् नो कल्पन्ते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा कृत्स्नानि सकल कृत्स्नादि रूपाणि वस्त्राणि 'धारयितुं वा' परिग्रहे धर्तुं 'परिहर्तुं वा' परिभोक्तुम्, अकृत्स्नानि तु कल्पन्ते, इति सूत्रसंक्षेपार्थः ॥७॥

मूल---"नोकप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अभिन्नाइं वत्थाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ८ ॥

टीका--नोकल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा' अभिन्नानि, अच्छिन्नानि वस्त्राणि धारयितुं वा परिहर्तुं वेति ॥ ८ ॥

मूल—कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा भिन्नाइं वत्थाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ९ ॥

टीका—अस्य व्याख्या प्रागवत्. (कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा भिन्नानि-छिन्नानि वस्त्राणि धर्तुं वा परिभोक्तुं वा) ॥ ९ ॥

मूल—नो कप्पइ निग्गंथाणं उग्गहणंतगं वा उग्गहपट्टगं वा धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ १० ॥

टीका—नोकल्पते निर्ग्रन्थानाम् 'अवग्रहाऽनन्तकं वा' गुह्यदेशपिधान-वस्त्रम् 'अवग्रहपट्टकं वा' तस्यैवाच्छादकपट्टं धारयितुं वा परिहर्तुं वा इति सूत्र-संक्षेपार्थः । १० ॥

मूल—कप्पइ निग्गंथीणं उग्गहणंतगं वा उग्गहपट्टगं वा धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ११ ॥

टीका—अस्य व्याख्या प्रागवत् ॥ ११ ॥

मूल—निग्गंथीए अ गाहावइकुलं पिंडवाय पडियाए अणुप्पविट्ठाए चेलट्ठे समुप्पज्जेज्जा, नो से कप्पइ अप्पणो नीसाए चेलं पडिग्गाहित्तए, कप्पइ से पवत्तिणि नीसाए चेलं पडिग्गाहित्तए। नो य से तत्थ पवत्तिणी सामाणा सिया जे तत्थ सामाणे आयरिए वा उवज्झाए वा पवित्ती वा थेरे वा गणी वा गणहरे वा गणावच्छेइए वा जं चऽन्नं पुरओ कट्टु विहरइ कप्पइ से तन्नीसाए चेलं पडिग्गाहित्तए ॥ १२ ॥

टीका—निर्ग्रन्थ्या गृहपतिकुलं पिण्डपात प्रतिज्ञया अनुप्रविष्टायाश्च तेनाऽर्थः-प्रयोजनं चेलार्थः स समुत्पद्येत, नो से, तस्याः कल्पते आत्मनो निश्रया चेलं प्रति-ग्रहीतुम्, किन्तु कल्पते 'से' तस्याः प्रवर्तिनी निश्रया चेलं प्रतिग्रहीतुम् । अथ तत्र न प्रवर्तिनी 'सामाणा' सन्निहिता ततो यस्तत्राचार्यो वा उपाध्यायो वा प्रवर्ती वा स्थविरो वा गणीवा गणधरो वा गणावच्छेदको वा सन्निहितो भवेत् । 'गणी' गणा-धिपतिराचार्यः, 'गणधरः' संयतीपरिवर्तकः शेषाः सर्वेऽपि प्रतीताः । एतेषां निश्रया यं वा 'अन्यं' गीतार्थं साधुं पुरतः कृत्वा विहरति तन्निश्रया कल्पते 'से' तस्याश्चेलं प्रतिग्रहीतुमिति सूत्रसंक्षेपार्थः ॥ १२ ॥

मूल—निग्गंथस्स तप्पढमयाए संपव्वयमाणस्स कप्पइ रयहरण गोच्छग पडिग्गहमायाए तिहिं कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए। से अ पुव्वोवट्ठिए सिया एवं से नो कप्पइ रयहरण पडिग्गह गोच्छय मायाए तिहिय कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए। कप्पइ से अहा, परिग्गहियाइं वत्थाइं गहाय आयाए संपव्वइत्तए॥ १३॥

टीका—निर्ग्रन्थस्य तत्प्रथमतया सम्-इति सम्यग्, प्रकर्षेण पुनरनङ्गीकार लक्षणेन व्रजतो-गृहवासान्निर्गच्छतः संप्रव्रजतः कल्पते रजोहरण गोच्छक-प्रतिग्रह-मादाय त्रिभिः कृत्स्नैर्वस्त्रैरात्मना सम्प्रव्रजितुम्। इह रजोहरण ग्रहणेन मध्यमोपधिः, गोच्छक ग्रहणेन जघन्योपधिः, प्रतिग्रहग्रहणेनोत्कृष्टोपधिः सर्वोगृहीतः, ततोऽयमर्थः-जघन्य मध्यमोत्कृष्टोपधि निष्पन्ना ये त्रयः कृत्स्नाः-प्रतिपूर्णा वस्त्र पात्र प्रत्यवतारा-स्तैरात्मना सहितैः प्रव्रज्या ग्रहीतुं कल्पते। 'से य' त्ति च शब्दोऽथ शब्दार्थः, अथाऽसौ प्रव्रज्याप्रतिपत्ता पूर्वम् उपस्थितः-दीक्षितः स्यात् ततो नो कल्पते 'से' तस्य पूर्वोपस्थितस्य रजोहरण गोच्छक प्रतिग्रहमादाय त्रिभिः कृत्स्नैर्वस्त्रैरात्मना सम्प्रव्रजितुम्। किन्तु कल्पते 'से' तस्य 'यथापरिगृहीतानि क्रीतकृतादिदोपरहितानि वस्त्राणि गृहीत्वा आत्मना संप्रव्रजितुमिति सूत्र संक्षेपार्थः॥ १३॥

मूल—निग्गंथीए णं तप्पढमयाए संपव्वयमाणीए कप्पइ से रयहरण-गोच्छग-पडिग्गहमायाए चउहिं कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए। साय पुव्वोवट्ठिया सिया एवं से नो कप्पइ रयहरण गोच्छग पडिग्गह मा-याए चउहिं कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए कप्पइ से अहापरिग्गहि-एहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए॥ १४॥

टीका-अस्य व्याख्या प्राग्वत्, नवरं निर्ग्रन्थ्याश्चतुर्भिः प्रत्यवतारैः सहितायाः प्रव्रजितुं कल्पते इति विशेषः॥ १४॥

मूल—नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पढमसमोसरणुद्देसपत्ताइं चेलाइं पडिग्गाहित्तए। कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा दोच्च समो-सरणुद्देसपत्ताइं चेलाइं पडिग्गाहित्तए॥ १५॥

टीका—"नो कप्पइ" त्ति आर्पत्वादेकवचनम्—नो कल्पन्ते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा प्रथमसमवसरणे—वर्षाकाले उद्देशः—क्षेत्रकालविभागस्तं प्राप्तानि प्रथम समवसर-

णोद्देश प्राप्तानि 'चेलानि' वस्त्राणि प्रतिग्रहीतुम्। किमुक्तं भवति ?--इह साधवो यत्र वर्षावासं चिकीर्षवस्तत् क्षेत्रं यावद् नाद्यापि प्राप्नुवन्ति, प्राप्ता वा परं नाद्याप्याषाढ पूर्णिमा लगति, तावत्कल्पन्ते वस्त्राणि प्रतिग्रहीतुम्। अथ वर्षावास प्रायोग्यं क्षेत्रं प्राप्ताः, आषाढ पूर्णिमा च सञ्जाता तत इयन्तं क्षेत्र कालविभागं प्राप्ताणि वस्त्राणि न कल्पन्ते। द्वितीय समवसरणोद्देशप्राप्तानि तु कल्पन्ते। इति सूत्रसंक्षेपार्थः ॥ १५ ॥

मूल---कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहाराइणियाए चेलाइं पडिग्गाहित्तए ॥ १६ ॥

टीका--कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा यथारात्निकं यो यो रात्निकः-भावरत्नैरधिकस्तदनतिक्रमेण चेलानि प्रतिग्रहीतुमिति सूत्रार्थः ॥ १६ ॥

मूल--कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहाराइणियाए सेज्जासंथारए पडिग्गाहित्तए ॥ १७ ॥

टीका--कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा यथारत्नाधिकं शय्यासंस्तारकान् प्रतिग्रहीतुमिति सूत्र संक्षेपार्थः ॥ १७ ॥

मूल--कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहाराइणियाए किइकम्मं करित्तए ॥ १८ ॥

टीका--कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा यथारात्निकं, यो यो रत्नाधिकस्तदनतिक्रमेण कृति कर्म कर्तुमिति सूत्र संक्षेपार्थः ॥ १८ ॥

मूल--नो कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अंतरगिहंसि चिट्ठित्तए वा निसीइत्तए वा जाव काउस्सग्गं वा ठाणं ठाइत्तए। अह पुण एवं जाणिज्जा--वाहिए, जराजुण्णे तवस्सी दुब्बले किलंते मुच्छिज्ज वा पवडिज्ज वा; एवं से कप्पइ अंतरगिहंसि चिट्ठित्तए वा जाव ठाणं ठाइत्तए॥ १९ ॥

टीका--नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा 'अन्तरगृहे' गृहस्य गृहयोर्वा अन्तराले [राजदन्तादित्वाद् आर्षत्वाद्वा अन्तर शब्दस्य पूर्वनिपातः] स्थातुं वा निषत्तुं वा यावत्करणात् त्वग्वर्तयितुं वा, निद्रायितुं वा, प्रचलायितुं वा, अशनं वा, पानं वा, खादिमं वा, स्वादिमं वा (आहारम्) आहर्तुम्। उच्चारं वा प्रस्रवणं वा खेलं वा सिङ्घानं वा परिष्ठापयितुम्, स्वाध्यायं वा कर्तुम्, ध्यानं वा ध्यातुम्,

"काउस्सग्गं" त्ति कायोत्सर्गलक्षणं वा स्थानं 'स्थातुं' कर्तुम्। सूत्रेणैवाऽपवादं दर्शयति-अथपुनरेवं जानीयात्-'वाहिए, इत्यादि व्याधितः-ग्लानः, जराजीर्णः--स्थविरः, 'तपस्वी' क्षपकः दुर्बलः-ग्लानत्वादधुनैवोत्थितोऽसमर्थ शरीरः, एतेषां मध्यादन्यतमस्तपसा भिक्षाटनेन वा क्लान्तः-परिश्रान्तः सन् मूर्च्छेद्वा प्रपतेद्वा, एवं कारणमुद्दिश्य कल्पते अन्तरगृहे स्थातुं वा यावत् कायोत्सर्गं वा कर्तुमिति सूत्रार्थः ॥ १६ ॥

मूल—"नो कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अंतरगिहंसि जाव चउगाहं वा पंचगाहं वा आइक्खित्तए वा विभावित्तए वा किट्टित्तए वा पवेइत्तए वा, नऽन्नत्थ एगणाएण वा एगवागरणेण वा एगगाहाए वा एग सिलोएण वा, से वि य ठिच्चा नो चेव णं अट्ठिच्चा ॥ २० ॥

टीका--नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अन्तर गृहे यावत् चतुर्गाथं वा पञ्चगाथं वा आख्यातुं वा विभावयितुं वा कीर्तयितुं वा प्रवेदयितुं वा। एतदेवापवदन्नाह-'नऽन्नत्थ' इत्यादि 'न कल्पते' इति योऽयं निषेधः स एकज्ञाताद्वा एक व्याकरणाद्वा एक गाथाया वा एक श्लोकाद्वा अन्यत्र मन्तव्यः। [सूत्रे च पञ्चम्याः स्थाने तृतीया निर्देशः प्राकृतत्वात्] तदपि च एक ज्ञातादि व्याख्यानं स्थित्वा कर्तव्यम्, नैव 'अस्थित्वा' भिक्षां पर्यटतोपविष्टेन वा इति सूत्रार्थः ॥ २० ॥

मूल—"नो कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अंतरगिहंसि इमाइं पंच महव्वयाइं सभावणाइं आइक्खित्तए वा विभावित्तए वा किट्टित्तए वा पवेयत्तए वा, नऽन्नत्थ एगनाएण वा जाव सिलोएण वा, से वि य ठिच्चा नो चेव णं अठिच्चा ॥ २१ ॥

टीका—अस्य व्याख्या प्राग्वत्, नवरम् 'इमानि' स्वयमनुभूयमानानि पंच महाव्रतानि सभावनानि-प्रतिव्रतं भावना पंचक युक्तानि आख्यातुं वा, विभावयितुं वा कीर्तयितुं वा प्रवेदयितुं वा न कल्पन्ते। आख्यानं नाम-साधूनां पंचमहाव्रतानि पंचविंशतिभावनायुक्तानि षट्कायरक्षणसाराणि भवन्ति 'इति सामान्यकथनम्'। विभावनंतु प्राणातिपाताद्विरमणं यावद् परिग्रहाद्विरमणमिति। भावनास्तु--"इरियासमिए सयाजए० इत्यादि गाथोक्तस्वरूपाः। षट्कायास्तु-पृथिव्यादयः। कीर्तनंनाम--"या प्रथमव्रतरूपा अहिंसा सा भगवती सदेवमनुजाऽसुरस्य लोकस्य

पूज्या, द्वीपः, त्राणं शरणं गतिः, प्रतिष्ठेत्यादि, एवं सर्वेषामपि प्रश्नव्याकरणोक्तान् गुणान् कीर्तयति। प्रवेदनं तु-महाव्रतानुपालनात् स्वर्गोऽपवर्गो वा प्राप्यते इति लाभकथनम्) इति सूत्रार्थः ॥ २१ ॥

मूल-"नो कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पाडिहारियं सिज्जा-संथारयं आयाए अपडिहट्टु संपव्वइत्तए ॥ २२ ॥

टीका--नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा प्रतिहरणं-प्रतिहारः-प्रत्यर्पणं तमर्हतीति प्रातिहारिकं, शय्याचसर्वाङ्गीणा, संस्तारकः-अर्द्धतृतीयहस्तमानः, शय्यासंस्तारकं तद् 'आदाय' गृहीत्वा कार्यसमाप्तौ 'अप्रतिहृत्य' प्रत्यर्पणमकृत्वा सम्प्रव्रजितुं-ग्रामान्तरं विहर्तुमिति सूत्रार्थः ॥ २२ ॥

मूल-"नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सागारिय संतियं सेज्जासंथारयं आयाए अविकरणं कट्टु संपव्वइत्तए ॥ २३ ॥

टीका--नोकल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा सागारिकः-शय्यातरस्तस्य सत्कं शय्यासंस्तारकम् आदाय-गृहीत्वा 'अविकरणं कृत्वा, अविकरणं नाम-यत् साधुना करणंकृतम्-तृणानां प्रस्तरणं कम्बिकानां बन्धनं फलकस्यस्थापनम्, तद् अनपनीय संप्रव्रजितुं विहर्तुमिति सूत्रार्थः ॥ २३ ॥

मूल-"इह खलु निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पाडिहारिए वा सागा-रियसंतिए वा सेज्जासंथारए विप्पणसिज्जा से य अणुगवेसियव्वे सिया, से अ अणुगवेस्समाणे लभेज्जा तस्सेव पडिदायव्वे सिया, से अ अणुगवेस-माणे नो लभिज्जा एवं से कप्पइ दोच्चंपि उग्गहं अणुन्नवित्ता परिहारं परिहरित्तए ॥ २४ ॥

टीका--इह अस्मिन् मौनीन्द्रे प्रवचने स्थितानां 'खलु' वाक्यालङ्कारे, निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा प्रातिहारिको वा सागारिकसत्को वा शय्यासंस्तारकः 'विप्रणश्येत्' विविधैः प्रकारैः प्रकर्षेण रक्ष्यमाणोऽपि नश्येत्, सच 'अनुगवेषयितव्यः' विप्रणाशान-न्तरम् पृष्ठत एव गवेषयितव्यः। स्याद्-भवेत् सचानुगवेष्यमाणो लभ्येत तस्यैव संस्तारक स्वामिनः प्रतिदातव्यः-प्रत्यर्पणीयः। स्यात् स चानुगवेष्यमाणो न लभ्येत तत एवं 'से' तस्य कल्पते 'द्वितीयमप्यवग्रहमनुज्ञाप्य' एकं तावत्प्रथमं यदा गृहीत-स्तदाऽनुज्ञापितः, ततो विप्रणष्टः सन् गवेष्यमाणोऽपि यदा न लब्धः, तदा संस्तारक

स्वामिनः कथिते सति यदसावन्यं संस्तारकं ददाति, यद्वा स एव संस्तारक स्वामिना मृग्यमाणोऽलब्धः, ततस्तद्विषयं द्वितीयमवग्रहमनुज्ञाप्य 'परिहारं' धारणा-परिभोग-लक्षणं 'परिहर्तुं' धातूनामनेकार्थत्वात्कर्तुमितिसूत्रार्थः ॥ २४ ॥

मूल-"जद्दिवसं समणा निग्गंथा सिज्जासंथारयं विप्पजहंति, तद्दिवसं अवरे समणा निग्गंथा हव्वमागच्छिज्जा सच्चेव उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ अहालंदमवि उग्गहे ॥ २५ ॥

टीका--जद्दिवसं, [इतिप्राकृतत्वात्सप्तम्यर्थे द्वितीया] ततो यस्मिन् दिवसे श्रमणा निर्ग्रन्थाः शय्या च वसतिः, संस्तारकश्च-तृणफलकात्मकः शय्यासंस्तारकम् । अत्र शय्याग्रहणेन ऋतुबद्धः कालः सूचितः, संस्तारकग्रहणेन तु वर्षाकालः, अथवा कारणजाते ऋतुबद्धेऽपि संस्तारको गृह्यते, इतिकृत्वा संस्तारक ग्रहणेन द्वावपि गृहीतौ, ततो मासकल्पे वर्षावासे वा पूर्णे शय्यां संस्तारकं वा यस्मिन् दिवसे पूर्वस्थिताः साधवः 'विप्रजहति' परित्यजन्ति, तद्दिवस एवाऽपरे श्रमणा निर्ग्रन्थास्तत्र क्षेत्रे 'हव्वं' शीघ्रमागच्छेयुः, ततः सैवाऽवग्रहस्य पूर्वानुज्ञापना तिष्ठति । किमुक्तं भवति ?--"य एव ततः क्षेत्रान्निर्गतास्तेषामेवाऽवग्रहे तत् क्षेत्रम्, येतु तद्दिवसमन्ये आगतास्ते क्षेत्रोपसम्पन्ना इति कृत्वा यत् तत्र सचित्तादिकं तत् पूर्वस्थितानामाभाव्यम् । कियन्तं कालं यावद् ? इत्याह--"अहालंदमवि उग्गहे" इह यस्यां वेलायां ते साधवो निर्गताः तावतीं वेलां यावद् द्वितीयेऽप्यहि तेषामेवाऽवग्रहो भवतीतिवद्यते, ततः 'यथालन्दम् इहाऽष्टपौरुषीप्रमाणं मध्यमं गृह्यते, एतावन्तमपि कालं तदीय एवावग्रहे तत् क्षेत्रम्, अतो यद्यागन्तुकास्तत्र सचित्ताऽदिग्रहणंकुर्वन्ति, तदा साधर्मिकस्तैन्यप्रत्ययं प्रायश्चित्तमापद्यन्ते । अत्र तु सचित्तेनाऽधिकार इति सूत्रार्थः ॥ २५ ॥

मूल-"अत्थि या इत्थ केइ उवस्सय परियावन्नए अचित्ते परिहरणारिहे सच्चेव उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ अहालंदमवि उग्गहे ॥२६॥

टीका—अस्ति च 'अत्र' अनन्तरसूत्र प्रस्तुते प्रतिश्रये किम् ? 'किञ्चिद्' आहाराऽर्थजातादिकं गृहस्थसत्कम् उपाश्रये पर्यापन्नं-विस्मृतं परित्यक्तं वा उपाश्रय-पर्यापन्नं 'अचित्तं' प्राशुकम् 'परिहरणार्हं, साधूनां परिभोक्तुं योग्यम्, तत्र सैवावग्रहस्य पूर्वानुज्ञापना तिष्ठति, तत्रोपाश्रये तिष्ठद्भिः पूर्वमेव 'अनुजानीत प्रायोग्यमृइत्येवं यदवग्रहोऽनुज्ञापितः सैवानुज्ञापना, पश्चादुपाश्रय पर्यापन्नग्रहणे व्यवतिष्ठते न

पुनरभिनवमनुज्ञापनं कर्तव्यमितिभावः । कियन्तं कालमित्याह—"यथालन्दमपि" मध्यमलन्दमात्रमपि कालं यावदवग्रह इतिसूत्रार्थः ॥ २६ ॥

मूल—"सेवत्थुसु अव्वावडेसु अव्वोगडेसु अपरपरिग्गहिएसु अमर परिग्गहिएसु सच्चेव उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ अहालंदमवि उग्गहे ।२७।

टीका- से, तस्य निर्ग्रन्थस्य 'वास्तुपु' गृहेषु, कथम्भूतेषु ? 'अव्यापृतेषु' शटित-पतिततया व्यापार विरहितेषु 'अव्याकृतेषु' दायादादिभिरविभक्तेषु अथवाऽतीत काले केनाऽप्यनुज्ञातमितिनज्ञायते यत् तद् अव्याकृतं तेषु, तथा 'अपरपरिगृहीतेषु' परैः-अन्यैरनधिष्ठितेषु 'अमरपरिगृहीतेषु'-देवैः स्वीकृतेषु, सैवावग्रहस्य पूर्वानुज्ञापना तिष्ठति यथालन्दमप्यवग्रहे । किमुक्तं भवति ?-यावन्तं कालं तानि वास्तूनि तेषां पूर्वस्वामिनामवग्रहे वर्तन्ते तावन्तं कालं सैव पूर्वानुज्ञा तिष्ठति, न पुनर्भूयोऽप्यवग्रहोऽनुज्ञापनीय इति सूत्रार्थः ॥ २७ ॥

मूल—"से वत्थुसु वावडेसु वोगडेसु पर परिग्गहिएसु भिक्खुभावस्स अट्ठाए दोच्चं पि उग्गहे अणुण्णवेयव्वे सिया अहालंदमवि उग्गहे ॥२८॥

टीका—से, तस्य निर्ग्रन्थस्य वास्तुपु-गृहेषु व्यापृतेषु-व्यापारयुक्तेषु वहमान-केष्वित्यर्थः व्याकृतेषु-दायादादिभिर्विभक्तेषु 'परपरिगृहीतेषु' अन्यवंशीयैरधिष्ठितेषु भिक्षुभावस्यार्थाय-भिक्षुभावो नाम ज्ञान-दर्शन-चारित्राणि तृतीय व्रतादिकं वा, तत्रैव भिक्षुशब्दस्य परमार्थत्वेन रूढत्वात् । सभिक्षुभावः परिपूर्णो भूयादित्येवमर्थं ये साधवः पश्चादागच्छन्ति, तैर्द्वितीयमपि वारमवग्रहोऽनुज्ञापयितव्यः स्याद् 'यथा-लन्दमपि' जघन्यलन्द मात्रमपि कालमवग्रहे तत्राऽवस्थाने इति सूत्रार्थः ॥ २८ ॥

मूल—"से अणुकुड्डेसु वा अणुभित्तीसु वा अणुचरियासु वा अणुफरिहासु वा अणुपंथेसु वा अणुमेरासु वा सच्चेव उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ अहालंदमवि उग्गहे ॥ २९ ॥

टीका—से-तस्य निर्ग्रन्थस्य अनुकुड्येषु वा, कुड्यसमीपवर्तिषु वा प्रदेशेषु, एवम्-अनुभित्तिषु वा, अनुचरिकासु वा, अनुपरिखासु वा, अनुपथेषु वा अनुमर्यादासु वा । अत्रचरिका नगर प्राकारयोरपान्तराले हस्ताष्टक प्रमाणो मार्गः, परिखा-खातिका, मर्यादा-सीमा शेषं प्रतीतम् । एतेषु सैवावग्रहस्य पूर्वानुज्ञापना तिष्ठति यथालन्द-मपि कालमवग्रह इति सूत्रार्थः ॥ २९ ॥

मूल—"से गामस्स वा जाव रायहाणीए वा बहिया सेएणं सन्निविट्ठं पेहाए कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तद्दिवसं भिक्खायरियाए गंतुं पडिएत्तए। नो से कप्पइ तं रयणिं तत्थेव उवाइणा वित्तए। जो खलु निग्गंथो वा निग्गंथी वा तं रयणिं तत्थेव उवाइणाइ, उवातिणंतं वा साइज्जति, से दुहतो वि अइक्कममाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं॥ ३०॥

टीका—से शब्दोऽथ शब्दाऽर्थे। अथ ग्रामस्य वा यावद् राजधान्या वा, यावत्करणात् नगरस्य वा खेटस्य वा इत्यादि परिग्रहः, एतेषामन्यतरस्य बहिः 'सेनां' राज्ञः स्कन्धावारं रोधकं कृत्वा सन्निविष्टं 'प्रेक्ष्य' दृष्ट्वा कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा तद्दिवसं भिक्षाचर्यायां गत्वा प्रत्यागन्तुम्। नो–नैव 'से' तस्य विवक्षितस्य भिक्षोः कल्पते तां रजनीं तत्रैव सेनायाम् उपादातुम्–अतिक्रामयितुम्। यः खलु निर्ग्रन्थो वा निर्ग्रन्थी वा तां रजनीं तत्रैवोपाददाति, उपाददतं वा स्वादयति स द्विधाऽप्यतिक्रामन्-जिनसीमानं राज सीमानं च विलुम्पन् आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानमनुद्घातिकमिति सूत्रार्थः॥ ३०॥

मूल—"से गामंसि वा जाव संनिवेसंसि वा कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सव्वओ समंता सकोसं जोयणं उग्गहं ओगिण्हित्ताणं चिट्ठित्तए॥ ३१॥ त्तिबेमि तइओ उद्देसो।

टीका—"अथ ग्रामे वा नगरे वा यावत् सन्निवेशे वा कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा 'सर्वतः' सर्वासुदिक्षु 'समन्तात्–चतसृष्वपि विदिक्षु सक्रोशं योजनमवग्रहमवगृह्य स्थातुमिति सूत्रार्थः॥ ३१॥

इति तृतीय उद्देशकः

समाप्तः

अथ चतुर्थ उद्देशकः

मूल—"तओ अणुग्घाइया पन्नत्ता, तंजहा—"हत्थकम्मं करेमाणे, मेहुणं पडिसेवमाणे, राइभोयणं भुंजमाणे ॥ १ ॥

टीका—त्रयः-त्रिसंख्याकाः अनुद्घातिकाः, उद्घातो नाम "अद्धेण छिन्नसेसं" (गा०……) इत्यादिविधिना भागपातः सान्तरदानं वा उद्घातः, स विद्यते येषु ते उद्घातिकाः, तद्विपरीता अनुद्घातिकाः प्रज्ञप्ताः—तीर्थकरादिभिः प्ररूपिताः। 'तद्यथा' इत्युपप्रदर्शनार्थः। हन्ति हसति वा मुखमावृत्यानेनेतिहस्तः-शरीरैकदेशो निक्षेपाऽऽदानादि समर्थः तेन यत् कर्म क्रियते तत्-हस्तकर्म, (विषयाऽऽसेवनरूपं) तत्कुर्वन्। तथा स्त्रीपुंसयुग्मं मिथुनमुच्यते, तस्य भावः कर्म वा मैथुनम्, तत् प्रतिसेवमानः। तथा रात्रौ भोजनम्-अशनादिकं भुञ्जानः। एष सूत्रार्थः ॥ १ ॥

मूल—"तओ पारंचिया पन्नत्ता, तंजहा—दुट्ठे पारंचिए, पमत्ते पारंचिए, अन्नमन्नं करेमाणे पारंचिए ॥ २ ॥

टीका—(शोधिः शुद्धिर्द्विविधा-तपोऽर्हा, छेदाऽर्हा च, तपोऽर्हा शोधिः खलु पूर्वसूत्रे प्रोक्ता, अथेदानीं छेदार्होऽभिधीयते। स च च्छेदो द्विधा-देशतः सर्वतश्च, तत्र देशच्छेदः पञ्चरात्रिन्दिवादिकः षण्मासान्तः। सर्वच्छेदः 'मूलादिः' मूला-ऽनव-स्थाप्य-पाराञ्चिक भेदात् त्रिविधः। अत्र सर्वच्छेदः-पाराञ्चिकलक्षणोऽधिक्रियते-"अथास्य सूत्रस्य व्याख्या-" त्रयः पाराञ्चिकाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा-दुष्टः पाराञ्चिकः, प्रमत्तः पाराञ्चिकः 'अन्योऽन्यं' परस्परं मुखपायु प्रयोगतः प्रतिसेवनां कुर्वाणः पाराञ्चिक इति सूत्र समासार्थः ॥ २ ॥

मूल—" ततो अणवट्ठप्पा पण्णत्ता,—तंजहा—साहम्मियाणं तेण्णं करेमाणे, अन्न धम्मियाणं तेण्णं करेमाणे, हत्थादालं दलमाणे ॥ ३ ॥

टीका—त्रयः—'अनवस्थाप्याः—तत्क्षणादेव व्रतेषु अनवस्थापनीयाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा—'साधर्मिकाः—साधवस्तेषां सत्कस्योत्कृष्टोपधेः शिष्यादेर्वा स्तैन्यं चौर्यं कुर्वाणः। अन्यधार्मिकाः—शाक्यादयो गृहस्था वा तेषांसत्कस्योपध्यादेः स्तैन्यंकुर्वन्। तथा हस्तेनाऽऽताडनं हस्तातालः, [सूत्रे च तकारस्य दकारश्रुतिरार्षत्वात्] तं दलमाणे-ददत्-यष्टिमुष्टि लकुटादिभिरात्मनः परस्य वा प्रहरन्निति भावः। अथवा—'हत्थालंबं' इतिपाठः, हस्तालम्ब इव हस्तालम्बः—अशिवादि प्रशमनार्थमभिचारुक मन्त्रादि प्रयोगः तं 'दलमाणे' कुर्वन्, यद्वा 'अत्थादाणं दलमाणे' इति पाठ', तत्र अर्थाऽऽदानम्—अर्थोपादानकारणमष्टाङ्गनिमित्त ददत्-प्रयुञ्जानः एष सूत्रसंक्षेपार्थः ॥ ३ ॥

मूल—" तओ नो कप्पंति पव्वावित्तए, तंजहा—पंडए, वाइए, कीवे ॥४॥

टीका—त्रयो नो कल्पन्ते प्रव्राजयितुम्। तद्यथा—पण्डकः—नपुंसकः। वातिको नाम यदा स्वनिमित्ततोऽन्यथा वा मेहनं काषायितं भवति, तदा न शक्नोति वेदं धारयितुं यावन्न प्रतिसेवा कृता (तथाविधः)। क्लीबः—असमर्थः सच दृष्टि क्लीबादि-लक्षणः। एष सूत्रार्थः ॥ ४ ॥

मूल—" एवं मुंडावित्तए, सिक्खावित्तए, उवट्ठावित्तए, संभुंजित्तए, संवासित्तए, ॥ ५ । ६ । ७ । ८ । ९ ॥

टीका—यथैते पण्डकादयस्त्रयः प्रव्राजयितुं न कल्पन्ते एवमेते-एव कथञ्चित्-छलितेन प्रव्राजिता अपि सन्तः 'मुण्डापयितु' शिरोलोचेन लुञ्चितुं न कल्पन्ते॥ एवं शिक्षापयितुं प्रत्युपेक्षणादि सामाचारीं ग्राहयितुम्। उपस्थापयितुं—महाव्रतेषु ऽवस्थापयितुम्। सम्भोक्तुम, एक मण्डली समुद्देशादिना ऽव्यवहारयितुं। संवासयि-तुम्—आत्मसमीपे आसयितुमिति सूत्रार्थः ॥ ५ । ६ । ७ । ८ । ९ ॥

मूल—" तओ नो कप्पंति वाइत्तए, तंजहा—' अविणीए, विगई-पडिवद्धे, अविओसवियपाहुडे ॥ १० ॥

मूल—"तओ कप्पंति वाइत्तए, तंजहा—विणीए, नो विगईपडिवद्धे विओसवियपाहुडे ॥ ११ ॥

टीका—त्रयो नो कल्पन्ते वाचयितुं-सूत्रं पाठयितुमर्थं वा श्रावयितुम्। तद्यथा

अविनीत –सूत्राऽर्थदातुर्वन्दनादि विनयरहितः। विकृतिप्रतिबद्धः- घृतादिरस विशेष-गृद्धः-अनुपधानकारीति भावः। अव्यवशमितम्-अनुपशान्तं प्राभृतमिव प्राभृतं-नरकपाल कौशलिकं तीव्रक्रोधलक्षणं यस्याऽसौ-अव्यवशमित प्राभृतः॥ एत-द्विपरीतास्तु त्रयोऽपि कल्पन्ते वाचयितुम्। तद्यथाविनीतो नो विकृति प्रतिबद्धो व्यपशमितप्राभृतश्चेति सूत्रार्थः॥ १०॥ ११॥

मूल–"तओ दुस्सन्नप्पा पन्नत्ता, तं जहा–दुट्ठे, मूढे, वुग्गाहिए॥१२॥

टीका––त्रयः दुःखेन-कृच्छ्रेण संज्ञाप्यन्ते–प्रतिबोध्यन्ते, इति दुःसंज्ञाप्याः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा––'दुष्टः–तत्त्वं प्रज्ञापकं वा प्रतिद्वेषवान् स च अप्रज्ञापनीयः द्वेषेणो-पदेशाऽप्रतिपत्तेः। एवं मूढो-गुणदोषाऽनभिज्ञः। व्युद्ग्राहितोनामकुप्रज्ञापक दृढीकृत विपरीतावबोधः। एष सूत्रार्थः॥ १२॥

मूल–"तओ सुसण्णप्पा पन्नत्ता, तंजहा–"अदुट्ठे, अमूढे, अवुग्गा-हिए॥ १३॥

टीका––त्रयः सुसंज्ञाप्याः–सुख प्रज्ञापनीयाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा-अदुष्टोऽमूढोऽव्यु-द्ग्राहितश्चेति॥ १३॥

मूल–"णिग्गंथिं च णं गिलायमाणिं पिता वा भाया वा पुत्तो वा पलिस्सएज्जा, तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा, मेहुणपडिसेवणपत्ता, आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं॥ १४॥

मूल–"निग्गंथं च णं गिलायमाणं माया वा, भगिणी वा, धूतावा पलिस्सएज्जा, तं च निग्गंथे साइज्जेज्जा, मेहुण पडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं॥ १५॥

टीका–– निर्ग्रन्थीं प्रागुक्त शब्दार्थाम् च शब्दो वाक्यान्तरोपन्यासे, 'णं' इति वाक्यालङ्कारे 'गिलायमाणिं, इति ग्लायन्तीं (ग्लै-हर्षक्षये,) शरीरक्षयेण हर्षक्षय मनुभवन्तीं, पिता वा, भ्राता वा, पुत्रो वा निर्ग्रन्थः सन् 'परिष्वजेत, प्रपतन्तीं धार-यन्, निवेशयन्, उत्थापयन् वा शरीरे स्पृशेत्, 'तं च, पुरुषस्पर्शं सा निर्ग्रन्थी मैथुन प्रतिसेवन प्राप्ता स्वादयेत्–अनुमोदयेत् तत आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थान मनुद्घातिकम्। एवं निर्ग्रन्थ सूत्रमपि व्याख्येयम, नवरं मातावा, भगिनी वा, दुहिता

वा परिष्ठपेत् (तं च निर्ग्रन्थः अनुमोदयेन ततः मैथुन प्रतिसेवना प्राप्तः-आपद्यते चातुर्मासिकं परिहार स्थानमनुद्घातिकम) एष सूत्रार्थः ॥ १४ ॥ १५ ॥

मूल-"नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा असणं वा पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा, पढमाए पोरिसीए पडिग्गाहित्ता पच्छिमं पोरिसिं उवाइणाविचाए। से य आहच्च उवाइणाविए सिया तं नो अप्पणा भुंजिज्जा, नो अन्नेसिं अणुप्पएज्जा, एगंते बहुफासुए थंडिले पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेयव्वे सिया। तं अप्पणा भुंजमाणे अन्नेसिं वा दलमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ॥ १६ ॥

मूल-"नो कप्पइ निग्गंथाण वा २ असणं वा ४ परं अद्ध जोयण मेराए उवायणाविचाए। से य आहच्च उवाइणाविए सिया, तं नो अप्पणा भुंजिज्जा नो अन्नेसिं अणुप्पएज्जा एगंते बहुफासुए थंडिले पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवियव्वे सिया। तं अप्पणा भुंजमाणे अन्नेसिं वा दलमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ॥ १७ ॥

टीका-नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अशनं वा, पानं वा, खादिमं वा, स्वादिमं वा, प्रथमायां पौरुष्यां प्रतिगृह्य पश्चिमां पौरुषीम् 'उवाइणावित्तए त्ति, उपानाययितुं-सम्प्रापयितुमिति। तच्च "आहच्च,-कदाचित उपानायितं स्यात्, ततः 'तद्, अशनादिकं नात्मना भुञ्जीत, नवा अन्येषां साधूनामनुप्रदद्यात्। किम्पुन-स्तर्हि विधेयम्? इत्याह-एकान्ते बहुप्राशुके स्थण्डिले प्रत्युपेक्ष्य-चक्षुषा प्रमृज्य-रजो-हरणेन परिष्ठापयितव्यं स्यात्। तद् आत्मना भुञ्जानोऽन्येषां वा ददान आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानमुद्घातिकम् ॥ एवं क्षेत्रातिक्रान्त सूत्रमपि वक्तव्यम्-नवरम्-अर्द्धयोजनलक्षणाया मर्यादाया अतिक्रामयितुमशनादिकं न कल्पते। स्यात् तदुपानायितं (उपानाययितं) भवेत्, ततो यः स्वयं तद् भुङ्क्तेऽन्येषां वा ददाति तस्य चतुर्लघुकमिति सूत्रद्वयार्थः ॥ १६ ॥ १७ ॥

मूल-"निग्गंथेण य गाहावइकुलं पिंडवाय पडियाए अणुप्पविट्ठेणं अन्नयरे अचित्ते अणेसणिज्जे पाणभोयणे पडिग्गाहिए सिया, अत्थि या इत्थ केइ सेहतराए अणुवट्ठावियए, कप्पइ से तस्स दाउं (वा)अणुप्पदाउं वा, नत्थि या इत्थ केइ सेहतराए, अणुवट्ठावियए तं नो अप्पणा भुंजेज्जा,

नो अन्नेसिं दावए, एगंते बहुफासुए पएसे पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेयव्वे सिया ॥ १८ ॥

टीका—निर्ग्रन्थेन च गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञयाऽनुप्रविष्टेन 'अन्नतरे त्ति' उद्गमोत्पादनैषणादोषाणामन्यतरेण दोषेणदुष्टम् 'अ.·पणीयम्' अशुद्धम्, 'अचित्तं· निर्जीवं पानभोजनमनाभोगेन प्रतिगृहीतं स्यात्' तच्चोत्कृष्टं न यतः ततः परित्यक्तुं शक्यते, अस्ति चात्र कश्चित् 'शैक्षतरकः, लघुतरः अनुपस्थापितकः, अनारोपित-महाव्रतः, कल्पते 'से' तस्य निर्ग्रन्थस्य तस्मै शैक्षाय दातुमनुप्रदातुं वा। तत्र दातुं-प्रथमतः, 'अनुप्रदातुम्-तेनाऽन्यस्मिन्नेषणीये सति पश्चात् प्रदातुम्। अथ नास्त्यत्र कोऽपि शैक्षतरकोऽनुपस्थापितकस्ततस्तद् 'नैवात्मनाभुञ्जीत नवाऽन्येषां दद्यात्' किन्तु एकान्ते बहुप्रासुके प्रदेशे प्रत्युपेक्ष्य प्रमृज्य च परिष्ठापयितव्यं स्यात्। इति सूत्रार्थः ॥ १८ ॥

मूल—"जे कडे कप्पट्ठियाणं कप्पइ से अकप्पट्ठियाणं, नो से कप्पइ कप्पट्ठियाणं। जे कडे अकप्पट्ठियाणं णो से कप्पइ कप्पट्ठियाणं, कप्पइ से अकप्पट्ठियाणं। कप्पे ठिया कप्पट्ठिया, अकप्पे ठिया अकप्पट्ठिया ॥१९॥

टीका-यद् अशनादिकं 'कृतं, विहितं कल्पस्थितानामर्थाय कल्पते तद् अकल्प-स्थितानाम्। नो तत् कल्पते कल्पस्थितानाम्। "इहाऽचेलक्यादौ दशविधे कल्पे ये स्थितास्ते कल्पस्थिता उच्यन्ते पञ्चयामधर्मप्रतिपन्ना इति भावः। ये पुनरेतस्मिन् कल्पे सम्पूर्णे न स्थितास्तेऽकल्पस्थिताः, चतुर्यामधर्मप्रतिपत्तार इत्यर्थः। ततः पञ्चया-मिकानुद्दिश्यकृतं चतुर्यामिकानां कल्पते, इत्युक्तं भवति। तथा यद् 'अकल्पस्थितानां चतुर्यामिकानामर्थाय कृतं नोतत्कल्पते, कल्पस्थितानां पञ्चयामिकानां किन्तु कल्पते तद् 'अकल्पस्थितानां चतुर्यामिकानाम्। अत्रैव व्युत्पत्तिमाह-'कल्पे अचेलक्यादौ दशविधे स्थिताः कल्पस्थिताः। अकल्पे अस्थितकल्परूपे स्थिता अकल्पस्थिताः। एष सूत्रार्थः ॥ १९ ॥

मूल—"भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा, उवज्झायं वा पवत्तिं वा, थेरं वा, गणिं वा, गणहरं वा, गणावच्छेइयं वा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जावगणा-

वच्छेइयं वा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ! ते य से वियरेज्जा एवं से कप्पइ अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ते य से नो वितरेज्जा एवं से नो कप्पइ अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ॥ २० ॥

टीका—"भिक्षुः-सामान्य साधुश्वशब्दान्निर्ग्रन्थी वा गणाद् 'अवक्रम्य-निर्गत्य इच्छेद्-अभिलषेदन्यं गणमुपसम्पद्यविहर्तुम्। नो से-तस्य भिक्षोः कल्पतेऽनापृच्छ्य आऽऽचार्यं वा उपाध्यायं वा प्रवर्तकं वा, स्थविरं वा गणिनं वा, गणधरं वा, गणावच्छेदकं वा अन्यं गणमुपसम्पद्य विहर्तुम्। कल्पते से-तस्य भिक्षोराचार्यं वा यावत्करणादु पाध्यायं वा प्रवर्तिनं वा स्थविरं वा गणिनं वा गणधरं वा गणावच्छेदकं वाऽऽपृच्छ्यान्यं गणमुपसम्पद्य विहर्तुम्। ते चाऽऽचार्यादय आपृष्टाः सन्तस्तस्यान्यगणगमनं वितरेयुः-अनुजानीयुः, तत एवं तस्य कल्पतेऽन्यं गणमुपसम्पद्यविहर्तुम्। ते च तस्य न वितरेयुस्ततो नो कल्पते तस्याऽन्यगणमुपसम्पद्य विहर्तुमिति सूत्रार्थः।२०।

मूल—"गणावच्छेइए य गणाओ अवकम्म इच्छेज्जा अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, नो कप्पइ गणावच्छेइयस्स गणावच्छेइयत्तं णिक्खिवित्ता अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, णो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव अन्नं गणं उपसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव विहरित्तए। तेय से वितरंति (यरेज्जा) एवं से कप्पइ जाव विहरित्तए तेय से नो वितरंति (यरेज्जा) एवं से नो कप्पइ जावविहरित्तए ॥ २१ ॥

मूल—"आयरिय उवज्झाए य गणाओ अवकम्म इच्छेज्जा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, कप्पइ आयरिय उवज्झायस्स आयरिय उवज्झायत्तं णिक्खिवित्ता अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। णो से कप्पइ अणापुच्छिता आयरियं वा जाव अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। कप्पति से आपुच्छित्ता जाव विहरित्तए। ते य से वितरंति, एवं से कप्पति अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। ते य से णो वियरंति एवं से णो कप्पति अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ॥२२॥

टीका—अस्य सूत्र द्वयस्य प्राग्वद् व्याख्या, न वरम्—गणावच्छेदकत्वमाचार्योपाध्यायत्वं च निक्षिप्य गन्तव्यमितिविशेषः ॥ २१ ॥ २२ ॥

विहरित्तए। ते य से वितरंति एवं से कप्पति जाव विहरित्तए, ते य से णो वितरंति एवं से णो कप्पति जाव विहरित्तए। जत्थुत्तरियं धम्मविणयं लभेज्जा एवं से कप्पइ जाव विहरित्तए। जत्थुत्तरियं धम्मविणयं नो लभेज्जा एवं से णो कप्पति जाव विहरित्तए॥ २५॥

टीका--अस्य सूत्रद्वयस्य व्याख्या पूर्ववत्॥ २४। २५॥

मूल-"भिक्खू य इच्छिज्जा अन्नं आयरिय उवज्झायं उद्दिसावित्तए, नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं आयरिय उवज्झायं उद्दिसावित्तए। कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं आयरियं उवज्झायं उद्दिसावित्तए। ते य से वियरिज्जा, एवं से कप्पइ अन्नं आयरिय उवज्झायं उद्दिसावित्तए। ते य से नो वियरेज्जा एवं से नो कप्पइ अन्नं आयरिय उवज्झायं उद्दिसावित्तए। नो से कप्पइ तेसिं कारणं अदीवित्ता अन्नं आयरिय उवज्झायं उद्दिसावित्तए, कप्पति से तेसिं कारणं दीवित्ता अन्नं आयरिय उवज्झायं उद्दिसावित्तए॥ २६॥

टीका- व्याख्या प्राग्वत्। नवरम्-अन्यम्-आचार्योपाध्यायमुद्देशयितुम्, आचार्यश्च उपाध्यायश्च-इत्याचार्योपाध्यायम्-(समाहारद्वन्द्वः,) यद्वा आचार्ययुक्त उपाध्याय आचार्योपाध्यायः (शाकपार्थिववत्-मध्यमपदलोपी समासः) आचार्योपाध्यायावित्यर्थः, तावन्यावुद्देशयितुमात्मनइच्छेत्। ततो नो कल्पते अनापृच्छ्याऽऽचार्यं वा यावद् गणावच्छेदकं वा इत्यादि प्राग्वद् द्रष्टव्यम्। तथा न कल्पते तेषाम्-आचार्यादीनां कारणम् 'अदीपयित्वा, अनिवेद्य अन्यमाचार्योपाध्यायम् 'उद्देशयितुम्' आत्मनो गुरुतया व्यवस्थापयितुम् 'कारणंदीपयित्वा तु कल्पते।' एष सूत्रार्थः॥ २६॥

मूल-"गणावच्छेइए य इच्छिज्जा अन्नं आयरिय उवज्झायं उद्दिसावित्तए, नो से कप्पइ गणावच्छेइयत्तं अनिक्खिवित्ता अन्नं आयरिय उवज्झायं उद्दिसावित्तए, कप्पइ से गणावच्छेइयत्तं निक्खिवित्ता अन्नं आयरिय उवज्झायं उद्दिसावित्तए। नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावित्तए, कप्पइ से आपुच्छित्ता जाव उद्दिसावित्तए। नो से कप्पति तेसिं कारणं अदीवित्ता

अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावित्तए, कप्पइ से तेसिं कारणं दीवित्ता अन्नं जाव उद्दिसावित्तए ॥ २७ ॥

मूल-आयरिय उवज्झाए इच्छिज्जा अन्नं आयरिय उवज्झायं उद्दिसावित्तए, नो से कप्पइ आयरिय उवज्झायत्तं अनिक्खिवित्ता अन्नं आयरिय उवज्झायं उद्दिसावित्तए, कप्पइ से आयरिय उवज्झायत्तं निक्खिवित्ता अन्नं आयरिय उवज्झायं उद्दिसावित्तए । णो से कप्पति अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं आयरिय उवज्झायं उद्दिसावित्तए, कप्पति से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावित्तए । ते य से वितरंति एवं से कप्पति जाव उद्दिसावित्तए, ते य से णो वियरंति एवं से नो कप्पइ जाव उद्दिसावित्तए । णो से कप्पइ तेसिं कारणं अदीवित्ता अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावित्तए, कप्पइ से तेसिं कारणं दीवित्ता जाव उद्दिसावित्तए ॥२८॥

टीका- अस्य सूत्रद्वयस्य व्याख्या प्राग्वत् ॥ २७ ॥ २८ ॥

मूल—भिक्खू य राओ वा वियाले वा आहच्च वीसुं भिज्जा, तं च सरीरगं केइ वेयावच्च करे भिक्खू इच्छिज्जा एगंते बहुफासुए पएसे परिट्ठवित्तए, अत्थियाइत्थकेइ सागारियसंतिए उवगरणजाए अचित्ते परिहरणारिहे, कप्पइ से सागारिकडं गहाय तं सरीरगं एगंते बहुफासुए पएसे परिट्ठवित्ता तत्थेव उवनिक्खिवियव्वे सिया ॥ २९ ॥

टीका—भिक्षुः च शब्दादाचार्योपाध्यायौ वा रात्रौ वा विकाले वा 'आहच्च' कदाचित्-विष्वग् भवेत्-जीव शरीरयोः पृथग् भावमाप्नुयात्-म्रियत इत्यर्थः । तच्च शरीरकं कश्चिद् वैयावृत्यकरो भिक्षुरिच्छेत् 'एकान्ते' विविक्ते 'बहुप्राशुके' कीटकादिसत्त्वरहिते प्रदेशे परिष्ठापयितुम् । अस्ति चात्र किञ्चित्सागारिक सत्कम् 'अचित्तं' निर्जीवं 'परिहरणार्हं-परिभोगयोग्यमुपकरणजातं-वहनकाष्ठमित्यर्थः । कल्पते 'से' तस्य भिक्षोस्तत्काष्ठं सागारिक कृतं-सागारिकस्यैव सत्कमिदं नास्माकम्, इत्येवं गृहीत्वा तत्-शरीरमेकान्ते बहुप्राशुके प्रदेशे परिष्ठापयितुम् । तच्च परिष्ठाप्य यतो गृहीतं तत् काष्ठं तत्रैवोपनिक्षेप्तव्यं स्यादिति सूत्रार्थः ॥ २९ ॥

मूल—भिक्खू य अहिकरणं कट्टु तं अहिगरणं अविओसवित्ता नो से कप्पइ गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा बहिया वियार भूमिं वा विहार भूमिं वा णिक्खमित्तए वा पविसित्तए वा गामाणुगामं वा दूइज्जित्तए, गणातो वा गणं संकमित्तए, वासावासं वा वत्थए। जत्थेव अप्पणो आयरिय उवज्झायं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं तस्संतिए आलोइज्जा पडिक्कमिज्जा निंदिज्जा गरहिज्जा विउट्टेज्जा विसोहेज्जा अकरणयाए अब्भुट्ठिज्जा आहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा। से य सुएण पट्ठविए आइअव्वे सिया, से य सुएण नो पट्ठविए नो आइतव्वे सिया, से य सुएण पट्ठविज्जमाणे नो आइयइ से निज्जूहियव्वे सिया ॥ ३० ॥

टीका—भिक्षुः प्रागुक्तः च शब्दादुपाध्यायादिपरिग्रहः अधिकरणं-कलहं कृत्वा नो कल्पते तस्य तदधिकरणमव्यवशमय्य गृहपतिकुलं भक्ताय वा पानाय वा निष्क्रमितुं वा प्रवेष्टुं वा 'बहिर्विचारभूमौ वा विहारभूमौ वा निष्क्रमितुं वा प्रवेष्टुं वा, ग्रामानुग्रामं वा द्रोतुं-विहर्तुम्। गणाद्वा गणं संक्रमितुम्। वर्षावासं वा वस्तुम्। किन्तु यत्रैवात्मन आचार्योपाध्यायं पश्येत्, कथम्भूतम् ? बहुश्रुतं-छेदग्रन्थादिकुशलं, बह्वागमम्-अर्थतः प्रभूतागमम्। तत्र तस्यान्तिके 'आलोचयेत्' स्वापराधं वचसा प्रकटयेत् प्रतिक्रामेत्-मिथ्यादुष्कृतं तद्विषये दद्यात्, 'निन्द्याद्' आत्मसाक्षिकं जुगुप्सेत, गर्हेत-गुरुसाक्षिकं निन्द्यात्। इह च निन्दनं गर्हणं वा तात्त्विकं तदा भवति यदा तत्करणतः प्रतिनिवर्तते तत आह-'व्यावर्तेत, तस्मादपराधपदाद्-निवर्तेत। व्यावृत्तावपिकृतात्पापात् तदामुच्यते यदाऽऽत्मनोविशोधिर्भवति, ततआह-''आत्मानं विशोधयेत्, पापमलापफेटनतो निर्मलीकुर्यात्। विशुद्धिः पुनरपुनः करणतायामुपपद्यते ततस्तामेवाऽऽह-''अकरणता-अकरणीयता तया अभ्युत्तिष्ठेत्। पुनरकरणतया अभ्युत्थानेऽपि विशोधिः प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या भवति, तत आह-'यथाऽर्हम्' यथा-योग्यं तपः कर्म प्रायश्चित्तं प्रतिपद्येत। 'तच्च' प्रायश्चित्तमाचार्येण 'श्रुतेन' श्रुतानुसारेण यदि 'प्रस्थापितं' प्रदत्तं तदा 'आदातव्यं, ग्राह्यं स्याद्-भवेत्, अथ श्रुतेन न प्रस्थापितं तदा नादातव्यं स्यात् 'स' च आलोचको यदि श्रुतेन प्रस्थाप्यमानमपि तत् प्रायश्चित्तं 'नादत्ति-न प्रतिपद्यते ततः सः 'निर्यूहितव्यः, 'अन्यत्र शोधिंकुरुष्व' इति निषेधनीयः स्यादिति सूत्रार्थः ॥ ३० ॥

मूल–परिहार कप्पट्ठियस्स णं भिक्खुस्स कप्पइ आयरिय उवज्झाएणं तद्दिवसं एगगिहंसि पिंडवायं दवावित्तए, तेण परं णो से कप्पइ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा। कप्पइ से अन्न-यरं वेयावडियं करित्तए, तंजहा–उट्ठावणं वा, निसिआवणं वा, तुयट्टा-वणं वा, उच्चार पासवण–खेल–सिंघाण विगिंचणं वा विसोहणं वा करि-त्तए। अह पुण एवं जाणिज्जा–छिन्नावाएसु पंथेसु आउरे झिंझिए पिवासिए, तवस्सी, दुब्बले, किलंते मुच्छिज्ज पवडिज्ज वा एवं से कप्पइ असणं वा ४ दाउं वा अणुप्पदाउं वा॥ ३१॥

टीका– परिहार कल्पस्थितस्य भिक्षोः कल्पते आचार्योपाध्यायेन 'तद्दिवसम्' इन्द्रमहाद्युत्सव दिने एकस्मिन् गृहे 'पिण्डपातं' विपुलमवगाहिमादि भक्तलाभं दापयितुम्। ततः परं 'से' तस्य नो कल्पते अशनं वा पानं वा खादिमं वा स्वादिमं वा दातुमनुप्रदातुं वा। तत्र दातुमेकशः, अनुप्रदातुं पुनः पुनः। किन्तु कल्पते 'से' तस्य परिहारिकस्यान्यतरद् वैयावृत्त्यं कर्तुम्। तद्यथा--"उत्थापनं वा निषादनं वा त्वग्वर्तापनं वा उच्चार प्रस्रवण खेल सिङ्घानादीनां च विवेचनं वा–परिष्ठापनं 'विशोधनं वा' उच्चारादिखरण्टितोपकरणादेः प्रक्षालनं कर्तुम्। अथ पुनरेवं जानीयात्–छिन्नापातेषु, व्यवच्छिन्न गमाऽऽगमेषु पथिषु आतुरः ग्लानः 'झिञ्झितः' बुभुक्षार्तः पिपासितः-तृषितो न शक्नोति विवक्षितं ग्रामंप्राप्तुम्, अथवा ग्रामादावपि तिष्ठतां सः तपस्वी षष्ठाऽष्टमादिपरिहारतपः कर्मकुर्वन् दुर्बलो भवेत्, ततो भिक्षाच-र्यया क्लान्तः सन् मूर्च्छेद्वा प्रपतेद्वा 'एवं' से–तस्य कल्पते अशनादिकं दातुमनु-प्रदातुं वा एष सूत्रार्थः॥ ३१॥

मूल–"नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा इमाओ पंच महण्ण-वाओ महानदीओ उद्दिट्ठाओ गणियाओ वंजियाओ अंतो मासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा। तं जहा–गंगा, जउणा, सरऊ, कोसिया, मही॥ ३२॥

टीका–नो कल्पते, न युज्यन्ते, सूत्रे एक वचननिर्देशः प्राकृतत्वात् निर्ग्रन्थानां वा वा निर्ग्रन्थीनां वा इमाः-प्रत्यक्षासन्नाः पञ्च महार्णवा–बहूदकतया महार्णवकल्पाः महासमुद्रगामिन्यो वा महानद्यः-गुरुनिम्नगाः उद्दिष्टाः- सामान्येनाऽभिहिता -यथा

महानद्य इति गणिता यथा पञ्चेति 'व्यञ्जिताः' व्यक्तीकृता यथा गङ्गेत्यादि 'अन्तर' मध्ये मासस्य द्विकृत्वो वा त्रिकृत्वो वा उत्तरीतुं वा–बाहुजंघादिना सन्तरीतुं वा–नावादिना। तद्यथा गङ्गा, १ यमुना,२ सरयू, ३ कोशिकी,४ मही, ५ एष सूत्रार्थः॥३२॥

मूल–"अह पुणएवं जाणिज्जा–एरावइ कुणालाए जत्थ चक्किया एगं पायं जले किच्चा एगं पायं थले किच्चा एवण्हं कप्पइ अंतो मासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा जत्थ एवं नो चक्किया एवण्हं नो कप्पइ अंतो मासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा ॥ ३३ ॥

टीका—अथ पुनरेवं जनीयात्—ऐरावती नाम नदी कुणालाया नगर्याः समीपे जंघार्द्ध प्रमाणेनोद्वेधेन वहति तस्यामन्यस्यां वा यत्रैवं "चक्किया–शक्नुयादुत्तरीतुमिति शेषः। कथम्? इत्याह–एकं पादं जले कृत्वा, एकं पादं 'स्थले' आकाशे कृत्वा 'एवण्हं' इति वाक्यालङ्कारे,यत्रोत्तरीतुं शक्नुयात् तत्र कल्पतेऽन्तर्मासस्य द्विःकृत्वो वा त्रिःकृत्वो वा उत्तरीतुं–लंघयितुं सन्तरीतुं वा भूयः प्रत्यागन्तुम्। यत्र पुनरेवमुत्तरीतुं न शक्नुयात् तत्र नो कल्पतेऽन्तर्मासस्य द्विकृत्वो वा त्रिकृत्वो वोत्तरीतुं वा सन्तरीतुं वा। इति सूत्रार्थः॥ ३३ ॥

मूल–"से तणेसु वा तणपुंजेसु वा पलालेसु वा पलालपुंजेसु वा अप्पंडेसु अप्पपाणेसु अप्पबीएसु अप्पहरिएसु अप्पुस्सेसु अप्पुंत्तिंग पणग दगमट्टिय मक्कडगसंताणएसु अहेसवण मायाए नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तहप्पगारे उवस्सए हेमंत गिम्हासु वत्थए॥ ३४ ॥

मूल–"से तणेसु वा जाव संताणएसु उप्पिसवणमायाए कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तहप्पगारे उवस्सए हेमंत गिम्हासु वत्थए ॥३५ ॥

मूल–"से तणेसु वा जाव संताणएसु अहेरयणी मुक्कमउडेसु नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तहप्पगारे उवस्सए वासावासं वत्थए ॥३६॥

मूल–"से तणेसु वा जाव संताणएसु उप्पिरयणीमुक्कमउडेसु कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तहप्पगारे उवस्सए वासावासं वत्थए ॥३७॥

टीका—अथ तृणेषु वा तृणपुंजेषु वा पलालेषु वा पलाल पुंजेषु वा अल्पाण्डेषु,

अल्पप्राणेषु अल्पबीजेषु अल्पहरितेषु अल्पाऽवश्यायेषु-अल्पोत्तिङ्ग पनक दक मृत्तिका मर्कट सन्तानकेषु । इहाऽण्डकानि पिपीलिकाऽऽदीनाम्। प्राणाः-द्वीन्द्रियादयः, बीजम्-अनङ्कुरितम्, तदेवाऽङ्कुरितोद्भिन्नं हरितम्, अवश्यायः-स्नेहः-उत्तिङ्गः-कीटिकानगरम्, पनकः-पञ्चवर्णः साङ्कुरोऽनङ्कुरो वा अनन्त वनस्पति विशेषः, दक-मृत्तिका-सचित्तो मिश्रो वा कर्दमः, मर्कटकः-कोलिकस्तस्य सन्तानकं जालकम्। अल्पशब्दश्चेह सर्वत्राऽभाव वचनः, ततोऽण्डरहितेषु प्राणरहितेषु इत्यादि मन्तव्यम्, अहेसवणमायाए, इति-अधः श्रवणमात्रया-श्रवणयोरधस्तात्-यत्र छादन तृणादीनि भवन्ति तथा प्रकारे उपाश्रये नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा हेमन्त ग्रीष्मेषु वस्तुम् अष्टावृतुबद्धमासान् इत्यर्थः ॥

एवं प्रतिषेध सूत्रमभिधाय प्रपञ्चितज्ञविनेयाऽनुग्रहाऽर्थं विधिसूत्रमाह-अथ तृणेषु वा यावदल्प सन्तानकेषु उपरिश्रवण मात्रया युक्तेषु तथाविधोपाश्रये कल्पते हेमन्त ग्रीष्मेषु वस्तुम्। एवमृतुबद्ध सूत्रद्वयं व्याख्यातम्। अथ वर्षा वास सूत्रद्वयं व्याख्यायते-अथ तृणेषु वा तृणपुञ्जेषु वा यादल्प० सन्तानकेषु "अधेरयणी मुक्क मउडेसु" इति अञ्जलिमुकुलितं बाहुद्वयमुच्छ्रितं मुकुट उच्यते सहस्तद्वय प्रमाणः। रत्निभ्यां-हस्ताभ्यां मुक्ताभ्याम् उच्छ्रिताभ्यां यो निामतो मुकुटः स रत्निमुक्त मुकुटः, एतावत्प्रमाणमधस्तादुपरि च यत्राऽन्तरालं न प्राप्यते तेष्वधोरत्निमुक्त मुकुटेषु तृणादिषु न कल्पते वर्षावासे वस्तुम्॥ अथ तृणेषु वा यादल्प० सन्तानकेषु उपरि रत्नि मुक्त मुकुटेषु यथोक्त प्रमाणेषु मुकुटोपरिवर्तिषु संस्तारके निविष्टस्य साधोरुर्द्ध तृतीय हस्ताद्यपान्तरालयुक्तेषु-इत्यर्थः। ईदृशां वसतौ कल्पते वर्षावासे वस्तुमिति सूत्र चतुष्टयार्थः ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

इति कल्पसूत्रस्य सटीकस्य चतुर्थ उद्देशः समाप्तः ॥

अथ पंचम उद्देशकः

मूल—"देवे य इत्थिरूवं विउव्वित्ता निग्गंथं पडिग्गाहिज्जा तं च निग्गंथे साइज्जेज्जा, मेहुण पडिसेवणप्पत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ १ ॥

मूल—"देवी य इत्थीरूवं विउव्वित्ता निग्गंथं पडिगाहिज्जा, तं च निग्गंथे साइज्जेज्जा मेहुणपडिसेवणप्पत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ २ ॥

मूल—"देवी य पुरिसरूवं विउव्वित्ता निग्गंथिं पडिग्गाहेज्जा, तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा, मेहुणपडिसेवणप्पत्ता आवज्जइ चाउम्मासियं अणुग्घाइयं ॥ ३ ॥

मूल—"देवे य पुरिसरूवं विउव्वित्ता निग्गंथीं पडिगाहिज्जा, तं च निग्गंथी साइज्जिज्जा, मेहुण पडिसेवणपत्ता आवज्जइ चाउम्मासियं अणुग्घाइयं ॥ ४ ॥

टीका-देवश्च स्त्री रूपं विकुर्व्य निर्ग्रन्थं प्रतिगृह्णीयात्, तच्च निर्ग्रन्थो मैथुन प्रति सेवनप्राप्तो यदि स्वादयेत्-अनुमोदयेत् तत आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानम् अनुद्घातिकम् ॥ १ ।

एवं द्वितीयसूत्रं-देवी स्त्रीरूपं विकुर्व्य निर्ग्रन्थं प्रतिगृह्णीयादित्याद्यपि मन्तव्यम् ।२

तृतीय सूत्रम्-देवी पुरुषस्यरूपं विकुर्व्य निर्ग्रन्थीं प्रतिगृह्णीयात्, तच्च निर्ग्रन्थी स्वादयेत्, मैथुन प्रतिसेवन प्राप्ता आपद्यते चातुर्मासिकमनुद्घातिकं स्थानम् ॥३॥

टीका--एवं देवः पुरुषरूपं विकुर्व्य निर्ग्रन्थीं प्रतिगृह्णीयादित्यादापि चतुर्थसूत्रं वक्तव्यम्। एष सूत्र चतुष्टयार्थः ।। ४ ।।

मूल--"भिक्खू य अहिगरणं कट्टु तं अहिगरणं अविओसवित्ता इच्छिज्जा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, कप्पइ तस्स पंचराइंदियं छेयं कट्टु, परिनिव्वाविय परिनिव्वाविय दोच्चं पि तमेव गणं पडिनिज्जाएअव्वे सिया, जहा वा तस्स गणस्स पत्तियं सिया ।। ५ ।।

टीका--भिक्षुः-च शब्दादाचार्य उपाध्यायो वाऽधिकरणं कृत्वा तदधिकरणमव्यवशमय्य इच्छेद् अन्यं गणमुपसम्पद्य विहर्तुम्। ततः कल्पते 'तस्य' अन्यगणमुपसंक्रान्तस्य पञ्चरात्रिन्दिवं छेदं कर्तुम्। ततः परिनिर्वाप्य परिनिर्वाप्य-कोमल वचः सलिलसेकेन कषायाग्नि सन्तप्तं सर्वतः शीतलीकृत्य द्वितीयमपिवारं तमेवगणं स प्रतिनिर्यातव्यः,-नेतव्यः स्यात्। यथा वा तस्य गणस्य प्रीतिकं स्यात् तथा कर्तव्यम् ।। एष सूत्रार्थः ।। ५ ।।

मूल--"भिक्खू य उग्गय वित्तीए अणत्थमिय संकप्पे संथडिए निव्वितिगिच्छे असणं वा ४ पडिग्गाहित्ता आहारं आहारेमाणे अहपच्छा जाणिज्जा--अणुग्गए सूरिए अत्थमिए वा, से जं च मुहे जं च पाणिंसि जं च पडिग्गहे तं विगिंचमाणे वा विसोहेमाणे वा नो अइक्कमइ, तं अप्पणा भुंजमाणे अन्नेसिं वा दलमाणे राइभोयण पडिसेवणप्पत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ।। ६ ।। (१)

मूल--"भिक्खू य उग्गय वित्तीए अणत्थमिय संकप्पे संथडिए वितिगिच्छासमावन्ने असणं वा ४ पडिग्गाहित्ता आहारं आहारमाणे जाव अन्नेसिं वा दलमाणे राइभोयण पडिसेवणप्पत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ।। ७ ।। (२)

मूल--"भिक्खू य उग्गयवित्तीए अणत्थमियसंकप्पे असंथडिए निव्वितिगिच्छे असणं वा ४ पडिगाहित्ता आहारं आहारेमाणे जाव अन्नेसिं वा दलमाणे राइभोयण पडिसेवणप्पत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ।। ८ ।। (३)

मूल—"भिक्खू य उग्गयवित्तीए अणत्थमियसंकप्पे असंथडिए वि-इगिच्छासमावन्ने असणं वा ४ पडिगाहित्ता आहारमाहारेमाणे जाव अन्नेसिं वा दलमाणे राइभोयणा पडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ ६ ॥ (४)

टीका—भिक्षुः पूर्ववर्णितः, चशब्दादाचार्य उपाध्यायश्च परिगृह्यते, उद्गत आदित्ये वृत्तिः—जीवनोपायो यस्य स उद्गतवृत्तिकः, पाठान्तरं वा—उग्गयमुत्तीए त्ति, मूर्तिः शरीरम्, उद्गते रवौ प्रतिश्रयावग्रहाद् बहिः प्रचारवती मूर्तिरस्य इति उद्गतमूर्तिकः—मध्यमपदलोपी समासः। अनस्तमिते सूर्ये सङ्कल्पो—भोजनाभिलापो यस्य सोऽनस्तमित सङ्कल्पः। संस्तृतो नाम—समर्थस्तद्दिवसं पर्याप्त भोजी वा। नि-र्विवितिगिंछे इति विचिकित्सा चित्तविप्लुतिः—सन्देह इत्येकोऽर्थः, सा निर्गता यस्मात् स निर्विचिकित्सः—उदितोऽनस्तमितो वा रविरित्येवं निश्चयवान् इत्यर्थः। एवंविध विशेषणयुक्तोऽशनं वा पानं वा खादिमं वा स्वादिमं वा प्रतिगृह्य आहारम् 'आहरन्' भुञ्जानोऽथ पश्चादेवं जानीयात्—अनुद्गतः सूर्योऽस्तमितो वा। एवं विज्ञाय 'से' तस्य यच्च मुखे प्रतिक्षिप्तं यच्च पाणावुत्पाटितं यच्च प्रतिग्रहे स्थितं तद् विविञ्चन् वा (विविचन् वा) परिष्ठापयन 'विशोधयन् वा निरवयवं कुर्वन्'नो' नैव भगवतामाज्ञा-मतिक्रामति। तद् अशनादिकम् आत्मना भुञ्जानोऽन्येषां वा ददानो रात्रिभोजन-प्रतिसेवन प्राप्त आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानमनुद्घातिकम् ॥ ६ ॥ १ ॥

एवमपरमपि सूत्र त्रयं मन्तव्यम्। नवरं द्वितीय सूत्रे—संस्तृतो—विचिकित्सा-समापन्नश्च यो भुंक्ते। विचिकित्सा—समापन्नो नाम 'किमुदितोऽनुदितो वा रविः'? अथवा—अस्तमितोऽनस्तमितो वा ?, इति सन्देहदोलायमानमानसः। एवं भुञ्जा-नस्य अन्येषां वा ददानस्य चतुर्गुरुकम् ॥ ७ ॥ २ ॥

तृतीय सूत्रे 'असंथडिये' इति 'असंस्तृतः' अध्वप्रतिपन्नः क्षपको ग्लानो वा भण्यते, स निर्विचिकित्सः, नियमादनुद्गतोऽस्तमितो वा रविः इत्येवं निस्सन्देहं जानानो ? (जानन्) यदि भुंक्ते तदपि चतुर्गुरुकम्। शेषं प्रथम सूत्रवत् ॥ ८ ॥ ३ ॥

चतुर्थ सूत्रे—असंस्तृतो विचिकित्सासमापन्नश्च यो भुंक्ते स आपद्यते चातु-र्मासिकं परिहारस्थानमनुद्घातिकम् ॥ एष सूत्र चतुष्टयार्थः ॥ ६ ॥ ४ ॥

मूल—"इह खलु निग्गंथस्स वा निग्गंथीए वा राओ वा वियाले वा

सपाणे सभोयणे उग्गाले आगच्छेज्जा, तं विगिंचमाणे वा विसोहेमाणे वा नो अइक्कमइ। तं उग्गिलित्ता पच्चोगिलमाणे राइभोयण पडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ १० ॥

टीका—इह, अस्मिन् मौनीन्द्रे प्रवचने ग्रामादौ वा वर्तमानस्य 'खलु', वाक्यालङ्कारे निर्ग्रन्थस्य वा निर्ग्रन्थ्या वा रात्रौ वा विकाले वा सहपानेन सपानः सह भोजनेन सभोजन उद्‌गार आगच्छेत्। किमुक्तं भवति? सिक्थविरहितमेकं पानीयमुद्‌गारेण सहागच्छति, कूरसिक्थं वा केवलमागच्छति, कदाचिदुभयं वा। तमुद्‌गारं विविञ्चन् वा सकृत्परित्यजन् 'विशोधयन् वा बहुशः परित्यजन् नो आज्ञामतिक्रामति' तमुद्‌गीर्य 'प्रत्यवगिलन्' भूयोऽप्यास्वादयन् आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानमनुद्‌घातिकम्। एष सूत्रार्थः ॥ १० ॥

मूल—"निग्गंथस्स य गाहावइकुलं पिंडवाय पडियाए अणुप्पविट्ठस्स अंतोपडिग्गहंसि पाणाणि वा बीयाणि वा रए वा परियावज्जेज्जा, तं च संचाएइ विगिंचित्तए वा विसोहित्तए वा, तं पुव्वामेव लाइया विसोहिया तओ संजतामेव भुंजेज्ज वा पिएज्ज वा। तं च नो संचाएइ विगिंचित्तए वा विसोहित्तए वा तं नो अप्पणा भुंजेज्जा नो अन्नेसिं दावए एगंते बहुफासुए पएसे पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवियव्वे सिया ॥ ११ ॥

टीका—निर्ग्रन्थस्य गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया अनुप्रविष्टस्यान्तः प्रतिग्रहे प्राणा वा बीजानि वा रजो वा परि–समन्तादापतेयुः। 'तच्च प्राणादिकं यदि शक्नोति विवेक्तुं वा विशोधयितुं वा ततः–'तत्–प्राणादिजातादिकं लात्वा–हस्तेन गृहीत्वा विशोध्य २–सर्वथैवापनीय ततः संयत प्रयत्नपर एव भुञ्जीत वा पिबेद्वा। तच्च न शक्नोति विवेक्तुं वा विशोधयितुं वा तदात्मना भुञ्जीत, नवाऽन्येषां दद्यात्, किन्तु एकान्ते बहुप्राशुके प्रदेशे प्रत्युपेक्ष्य प्रमृज्य परिष्ठापयितव्यं स्यादिति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥

मूल—"निग्गंथस्स य गाहावइकुलं पिंडवाय पडियाए अणुप्पविट्ठस्स अंतोपडिग्गहगंसि दए वा दगरए वा दगफुसिए वा परियावज्जेज्जा, से य उसिणे भोयणजाते भोत्तव्वे सिया, से य सीए भोयणजाते तं नो अप्पणा भुंजेज्जा, नो अन्नेसिं दावए, एगंते बहुफासुए पदेसे परिट्ठवेयव्वे सिया ॥ १२ ॥

टीका –निर्ग्रन्थस्य गृहपतिकुलं पिण्डपात प्रतिज्ञयाप्रविष्टस्यान्तःप्रतिग्रहे भक्त-पानमध्ये 'दकं वा' प्रभूताप्कायरूपं दकरजो वा, उदकविन्दुः 'दकस्पर्शितं वा, उदकशीकराः पर्यापतेयुः। तच्चोष्णं भोजनजातं ततो भोक्तव्यंस्यात। अथ शीतं तद् भोजनजातं ततस्तन्नात्मना भुञ्जीत, नान्येषांद्द्यात्, एकान्ते वहुप्राशुके प्रदेशे परिष्ठापयितव्यं स्यादिति सूत्रार्थः॥ १२॥

मूल–निग्गंथीए राओ वा वियाले वा उच्चारं वा पासवणं वा विगिंचमाणीए वा विसोहेमाणीए वा अन्नयरे पसुजाइए वा पक्खिजाइए वा अन्नयरं इंदियजायं परामुसेज्जा, तंच निग्गंथी साइज्जेज्जा, हत्थकम्मं पडिसेवणप्पत्ता आवज्जइ मासियं अणुग्घाइयं ॥ १३ ॥

मूल–निग्गंथीओ राओ वा वियाले वा उच्चारं वा पासवणं वा विगिंचमाणीए वा विसोहेमाणीए वा अन्नयरे पसुजाइए वा पक्खिजाइ-ए वा अन्नयरंसि सोयंसि ओगाहिज्जा, तंच निग्गंथी साइज्जेज्जा, मेहुण-पडिसेवणप्पत्ता आवज्जइ चाउमासियं अणुग्घाइयं ॥ १४ ॥

टीका–निर्ग्रन्थ्या रात्रौ वा विकाले वा उच्चारं वा प्रस्रवणं वा विविचिन्त्या वा विशोधयन्त्या वा अन्यतरः पशुजातीयो वा वानरादिकःपक्षिजातीयो वा, मयूरादि-कोऽन्यतरदिन्द्रिय जातं 'परामृशेत् ,स्पृशेत्, सा च निर्ग्रन्थी तं च स्पर्शं स्वादयेत्–सुन्दरोऽस्य स्पर्श इत्यनुमन्येत, हस्तकर्म प्रतिसेवन प्राप्ता आपद्यते मासिकमनुद्-घातिकं स्थानम्। इह निर्ग्रन्थीनां परिहारतपो न भवतीति कृत्वा 'परिहारट्ठाणं' इतिपदं न पठनीयम्॥ एवं द्वितीयसूत्रमपि व्याख्येयम्। नवरम्–स्रोतसि–योन्यादौ वानरादिरवगाहेत। सा च मैथुन प्रतिसेवनप्राप्ता यदि स्वादयेत् ततश्चतुर्गुरुकमिति सूत्रार्थः॥ १३॥ १४॥

मूल–नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए गाहावइकुलं पिंडवाय पडि-याए निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा, बहिया वियार भूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा एवं गामाणुगामं वा दूइज्जित्तए वासा-वासं वा वत्थए॥ १५॥

टीका–नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या एकाकिन्या गृहपतिकुलं पिण्डपात प्रतिज्ञया निष्क-

मितुं वा प्रवेष्टुं वा बहिर्विचारभूमौ वा विहारभूमौ वा निष्क्रमितुं वा प्रवेष्टुं वा ग्रामानुग्रामं वा द्रोतुं-विहर्तुम् वर्षावासं वा वस्तुमिति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥

मूल—नो कप्पइ निग्गंथीए अचेलियाए हुं (हो) तए ॥ १६ ॥

टीका—नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या अचेलिकाया वस्त्ररहिताया भवितुमिति नृपसूत्रार्थ.।१६।

मूल—नो कप्पइ निग्गंथीए अपाइयाए हुंतए ॥ १७ ।

टीका—नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या अपात्रायाः—पात्र रहिताया भवितुमिति सूत्रार्थः।१७।

मूल—नो कप्पइ निग्गंथीए वोसट्ठकाइयाए हुंतए ॥ १८ ॥

टीका—नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या व्युत्सृष्टकायिकायाः—परित्यक्तदेहाया भवितुमिति सूत्रार्थः ॥ १८ ॥

मूल—नो कप्पइ निग्गंथीए वहिया गामस्स वा जाव सन्निवेसस्स वा उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय सूराभिमुहीए एगपाइयाए ठिच्चा आयावणाए आयावित्तए । कप्पइ से उवस्सयस्स अंतोवगडाए संघाडिपडिबद्धाए पलंबिय बाहियाए समतल पाइयाए ठिच्चा आयावणाए आयावित्तए ॥१६॥

टीका—नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या वहिर्ग्रामस्य वा यावत्संनिवेशस्य वा ऊर्द्ध्वम्-ऊर्द्ध्वार्ऽभिमुखौ बाहू प्रगृह्य-प्रगृह्य प्रकर्षेण गृहीत्वा-कृत्वेत्यर्थः। सूर्याभिमुख्या एक पादिकायाः, एकं पादमुर्द्ध्वं कृत्वाऽऽकुञ्च्य च अपरमेकं पादं भुविकृतवत्या एवंविधायाः स्थित्वाऽऽतापनयाऽऽतापयितुम्। किन्तु कल्पते से-तस्या उपाश्रयस्याऽन्तर्वगडायां (सङ्घाटी प्रतिबद्धायाः) प्रलम्बित बाहायाः समतल पादिकायाः स्थित्वा आतापनया आतापयितुमिति सूत्रार्थः ॥ १६ ॥

मूल—नो कप्पइ निग्गंथीए ठाणाइयाए हुंतए ॥ २० ॥

मूल—"नो कप्पइ निग्गंथीए पडिमट्ठाइयाए हुंतए ॥ २१ ॥

मूल—"एवं ने सज्जियाए ॥ २२ ॥ उक्कुडुगासणियाए ॥२३॥ वीरासणियाए ॥२४॥ दंडासणियाए ॥२५॥ लगंडसाइयाए ॥२६॥ ओमंथियाए ॥२७॥ उत्ताणियाए ॥२८॥ अंबखुज्जियाए ॥२६॥ एगपासियाए।३०।

टीका—नो कल्पते निर्ग्रन्थ्याः स्थानायताया भवितुम् ॥ २० ॥ एवं प्रतिमास्थायिन्याः। नैषधिकायाः। उत्कटिकासनिकायाः। वीरासनिकायाः। [illegible]

लगण्डशायिन्याः । अवाङ्मुखायाः । उत्तानिकायाः । आम्रकुब्जिकायाः । एकपार्श्वशायिन्याः ॥ इति सूत्राक्षरार्थः ॥२१-२२-२३-२४-२५-२६-२७-२८-२९-३०॥

मूल—"नो कप्पइ निग्गंथीणं आकुंचणपट्टगं धारित्तए वा परिहरित्तए वा । कप्पइ निग्गंथाणं आकुंचणपट्टगं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ।३१।

टीका—"नो कल्पते निर्ग्रन्थीनाम् आकुञ्चनपट्टं—पर्यस्तिकापट्टं धारयितुं वा परिहर्तुं वा । कल्पते निर्ग्रन्थानामाकुञ्चनपट्टं धारयितुं वा परिहर्तुं वेति सूत्रार्थः ॥३१।

मूल—"नो कप्पइ निग्गंथीणं सावस्सयंसि आसणंसि आसइत्तए वा तुयट्टित्तए वा । कप्पइ निग्गंथाणं सावस्सयंसि आसणंसि आसइत्तए वा तुयट्टित्तएवा ॥३२॥

टीका—सावश्रयं नाम-यस्य पृष्ठतोऽवष्टम्भो भवति, एवंविधे आसने निर्ग्रन्थीनां नोकल्पते आसितुं वा त्वग्वर्तितुं वा कल्पते निर्ग्रन्थानां सावश्रये आसने आसितुं वा त्वग्वर्तितुं वा निर्ग्रन्थ्यस्तु तादृशे आसने यदि उपविशन्ति शेरते वा तदा त एव गर्वादयो दोषाश्चतुर्गुरु च प्रायश्चित्तम् । द्वितीयपदेऽल्पसागारिके स्थविरा ग्लाना वा उपविशेयुः । निर्ग्रन्थानामपि न कल्पते । यदि उपविशन्ति तदाचतुर्लघु । सूत्रं तु कारणिकम् । तदेव कारणमाह—"सावस्सए इत्यादि पश्चार्द्धम् । यो वृद्धआचार्यः सः 'पूर्वकृते' गृहस्थैः स्वार्थं सम्पादिते सावश्रयेऽप्यासने उपविष्टः 'असागारिके एकान्ते वाचयेत् विनेयानां वाचनां दद्यात् ॥ ३२ ॥

मूल—"नो कप्पइ निग्गंथीणं सविसाणंसि पीढंसि वा फलगंसि वा आसइत्तए वा तुयट्टित्तए वा । कप्पइ निग्गंथाणं सविसाणंसि पीढंसि वा फलगंसि वा आसइत्तए वा तुयट्टित्तए वा ॥ ३३ ॥

टीका—सविषाणं नाम-यथा कपाटस्योभयतः शृङ्गे भवतः एवं यत्र भिसिकादौ पीठे फलके वा विषाणं शृङ्गं भवति तत्र निर्ग्रन्थीनामासितुं वा शयितुं वा न कल्पते । निर्ग्रन्थानां तु कल्पते । निर्ग्रन्थ्यस्तु सविषाणे पीठे फलके वा यद्युपविशन्ति शेरते वा तदा चतुर्गुरु आज्ञादयश्च दोषाः ॥ ३३ ॥

मूल—नो कप्पइ निग्गंथीणं सवेंटयं लाउयं धारित्तए वा परिहरित्तए वा । कप्पइ निग्गंथाणं सवेंटयं लाउयं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥३४॥

टीका—अस्य व्याख्या सुगमा । नवरम्-'सवेंटियं' नालयुक्तमलाबुकं तन्निर्ग्रन्थीनां न कल्पते । निर्ग्रन्थानान्तु कल्पते ॥ ३४ ॥

मूल—नो कप्पइ निग्गंथीणं सवेंटियं पायकेसरियं धारित्तए वा परिहरित्तए वा। कप्पइ निग्गंथाणं सवेंटियं (ट्या) पादकेसरियं (रया) धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ३५ ॥

टीका—नो कल्पते निर्ग्रन्थीनां सवृन्तिका पादकेसरिका धारयितुं वा परिहर्तुं वा। कल्पते निर्ग्रन्थानां सवृन्तिका पादकेसरिका धारयितुं वा परिहर्तुं वा ॥ ३५ ।

मूल—नो कप्पइ निग्गंथीणं दारुदंडयं पायपुंछणं धारित्तए वा परिहरित्तए वा। कप्पइ निग्गंथाणं दारुदंडयं जाव परिहरित्तए वा ॥ ३६ ॥

टीका—यत्र दारुमयस्य दण्डस्याग्रभागे ऊर्णिका दशिका बध्यन्ते तद् दारुदण्डकं पादप्रोञ्छनमुच्यते। तद् निर्ग्रन्थीनां न कल्पते। निर्ग्रन्थानां तु कल्पते ॥ ३६ ॥

मूल—नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अन्नमन्नस्स मोयं आइयत्तए वा आइमित्तए वा नन्नत्थ गाढाऽगाढेसु रोगायंकेसु ॥ ३७ ॥

टीका—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अन्योन्यस्य-परस्परस्य मोकमापातुं वा आचमितुं वा। किं सर्वथैव ? न, इत्याह—गाढाः—अहि-विष-विसूचिकादयः अगाढाश्च, ज्वरादयो रोगातङ्कास्तेभ्योऽन्यत्र न कल्पते, तेषु तु कल्पते, इत्यर्थः। एष सूत्रार्थः ॥ ३७ ॥

मूल—नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पारियासियस्स आहारस्स जाव तयप्पमाण मित्तमवि भूइप्पमाण मित्तमवि बिन्दुप्पमाण मित्तमवि आहारं आहरित्तए, नन्नत्थ आगाढेसु रोगायंकेसु ॥ ३८ ॥

टीका—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा परिवासितस्य, रजन्यां स्थापितस्याहारस्य मध्यात् त्वक् प्रमाणमात्रमपि भूति प्रमाणमात्रमपि बिन्दु प्रमाण मात्रमपि यावदाहारमाहर्तुम्। इह त्वक् प्रमाणमात्रं नाम-तिलतुषत्रिभागमात्रम् तच्चाशनस्य घटते, भूति (भस्म) प्रमाणमात्रं सक्तुकादीनां ज्ञेयम्। बिन्दु प्रमाण मात्रं पानकस्य। इदमेवाऽपवदति—आगाढेभ्यो रोगाऽऽतङ्केभ्योऽन्यत्र न कल्पते। तेषु पुनः कल्पत इति सूत्रार्थः ॥ ३८ ॥

मूल—नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पारियासिएणं आलेवण जाएणं (गायाइं) आलिंपित्तए वा विलिंपित्तए वा नन्नत्थ आगाढेहिं रोगायंकेहि ॥ ३९ ॥

टीका—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा परिवासितेनाऽऽलेपनजातेन 'आलेपयितुं' वा ईषल्लेपयितुं वा, विलेपयितुं वा–विशेषेण लेपयितुं वा नाऽन्यत्राऽऽगाढेभ्यो रोगाऽऽतङ्केभ्य इति सूत्रार्थः ॥ ३९ ॥

मूल—नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पारियासिएणं तेल्लेण वा घएण वा नवणीएण वा वसाए वा गायं अब्भंगित्तए वा मक्खित्तए वा नन्नत्थ गाढागाढेहिं रोगायंकेहिं ॥ ४० ॥

टीका—नो कल्पते परिवासितेन तैलेन वा घृतेन वा नवनीतेन वा वसया वा गात्रम् 'अभ्यङ्क्तुं' वा, बहुकेन तैलादिना, म्रक्षितुं वा–स्वल्पेन तैलादिना, नान्यत्र गाढाऽगाढेभ्यो रोगातङ्केभ्यः तान् मुक्त्वा न कल्पते। दोषाश्चात्र त एव सञ्चयादयो मन्तव्याः ॥ ४० ॥

मूल—"परिहार कप्पट्ठिए भिक्खू बहिया थेराण वेयावडियाए गच्छेज्जा, से य आहच्च अइक्कमेज्जा, तं च थेरा जाणेज्जा, अप्पणो आगमेणं अन्नेसिं वा अंतिए सोमोच्चा तओ पच्छा तस्स अहालहुस्सए नाम ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥ ४१ ॥

टीका—परिहार कल्पस्थितो भिक्षुः बहिः अन्यत्र नगरादौ स्थविराणाम्, आचार्याणामादेशेन वैयावृत्य(त्या)र्थं गच्छेत्, किमुक्तं भवति? अन्यस्मिन् गच्छे केषांचिदाचार्याणां वादी-नास्तिकादिक उपस्थितः, तेषां च नास्ति वादलब्धिसम्पन्नः, ततस्ते येषामाचार्याणां स परिहारिकस्तेषामन्तिके संघाटकं प्रेषयन्ति, सच संघाटको ब्रूते-वादिनं कमपि मुत्कलयत। एवमुक्ते ते-आचार्याः परिहारिकं परवादि निग्रहक्षमं मत्वा तत्र प्रेषयन्ति। ततस्तदादेशादसौ परिहार तपो वहमान एव तत्र गच्छेत्। इदंच महत्प्रवचनस्य-वैयावृत्यंयद् अग्लान्या परवादि निग्रहणम्। ततस्तदर्थं गतः स पारिहारिकः आहच्च, कदाचित् अतिक्रामेत्, पादधावनादिकं प्रतिसेवेत, तच्च प्रतिसेवनं 'स्थविराः' मौलाचार्या आत्मनः 'आगमेन' अवध्याद्यतिशयज्ञानेन

अन्येषां वाऽन्तिके श्रुत्वा जानीयुः ? ततःपश्चात् तत्परिज्ञानाऽन्तरं 'तस्य' पारिहारिकस्य 'यथालघुस्वको नाम, स्तोक प्रायश्चित्तरूपो व्यवहारः प्रस्थापयितव्यः स्यादिति सूत्रार्थः ॥ ४१ ॥

मूल–"निग्गंथीए य गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठाए अन्नयरे पुलागभत्ते पडिग्गाहिए सिया, सा य संथरिज्जा, कप्पइ से तद्दिवसं तेणेव भत्तट्ठेणं पज्जोसवित्तए, नो से कप्पइ दोच्चंपि गाहावइकुलं पिंडवाय पडियाए पविसित्तए, सा य नो संथरेज्जा, एवं से कप्पइ दोच्चं पि गाहावइकुलं पिंडवाय पडियाए पविसित्तए ॥ ४२ ॥

टीका--निर्ग्रन्थ्या गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञयाऽनुप्रविष्टया 'अन्यतरद्' धान्य-गन्ध-रसपुलाकानां-वल्ल विकट दुग्धादिरूपाणामेकतरं पुलाकभक्तं प्रतिगृहीतं स्यात्, साच तेनैव भुक्तेन 'संस्तरेत्' दुर्भिक्षाद्यभावात्-निर्वहेत्, ततः कल्पते तस्यास्तद्दिवसे 'सं०' तेनैव भक्तार्थेन 'पर्युषितुम' निर्वाहयितुम्। नो से-तस्याः कल्पते द्वितीयमपि वारं गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रवेष्टुम्। अथ सा न संस्तरेत्, ततः कल्पते तस्या द्वितीयमपि वारं गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रवेष्टुमिति सूत्रार्थः ॥ ४२ ॥

"इति बृहत्कल्पसूत्रस्य पञ्चमोद्देशकः समाप्तः"

अथ षष्ठ उद्देशकः

मूल—"नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा इमाइं छ अवयणाइं वइत्तए, तं जहा—अलियवयणे १ हीलियवयणे २ खिंसियवयणे ३ फरुस-वयणे ४ गारत्थियवयणे ५ [1]विउसवियं वा पुणो उदीरित्तए ॥ १ ॥

टीका—पञ्चमोद्देशकस्यादिसूत्रं उक्तम्—"देवः स्त्रीरूपं कृत्वा साधुं भोगै-र्निमन्त्रयेत्" सच तान् भुक्त्वा गुरुसकाशमागत आलोचयेत्-दिव्यैर्भोगैः 'छन्दितः' निमन्त्रितोऽहं परं मया ते भोगा नेप्सिताः 'इति' एवं गौरवेण कश्चिदलीकं वदेत्। अत इदं षष्ठोद्देशकस्यादिसूत्रमारभ्यते। अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या—'नोकप्प०' इति वचनव्यत्ययात्—नो कल्पन्ते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा इमानि प्रत्यक्षाऽऽसन्नानि षडिति-षट्संख्याकानि अवचनानि-नञः कुत्सार्थत्वात् अप्रशस्तानि वचनानि वदितुं-भाषितुम्। तद्यथा-अलीकवचनं १ हीलितवचनं २ खिंसितवच-नं ३ परुषवचनं ४ आगारिणो (आगारेस्थिताः)गृहिणः—तेषांवचनं ५ व्यवशमितं वा, उपशमितमधिकरणं पुनर्भूयोऽप्युदीरयितुं न कल्पते इतिप्रक्रमः। अनेन व्यवशमितस्य पुनरुदीरणवचनं नाम षष्ठमवचनमुक्तम् इति सूत्र संक्षेपार्थः ॥ १ ॥

मूल—"कप्पस्स छ पत्थारा पन्नत्ता, तं जहा—'पाणाइवायस्स वायं वयमाणे १ मुसावायस्स वायं वयमाणे २ अदिन्नादाणस्स वायं वयमाणे ३ अविरइय[2] वायं वयमाणे ४ अपुरिस वायं वयमाणे ५ दासवायं वयमाणे ६ इच्चेते कप्पस्स छ पत्थारे पत्थरेत्ता सम्मं अप्पडिपूरेमाणे तट्ठाणपत्ते सिया ॥ २ ॥

टीका—कप्पस्स-कल्पः-साधुसमाचारः, तस्य सम्बन्धिनः तद्विशुद्धिकारणत्वात् प्रस्ताराः-प्रायश्चित्तरचना विशेषाः षड्विधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा-पाणाइ०-प्राणाति-

---

१—विओसवियं आ० मा०। २—अविरइया आ० मा०।

पातस्य वादं वार्तां वाचं वा वदति साधौ प्रायश्चित्तप्रस्तारो भवतीत्येकः ॥ १ ॥ मुसा०-एवं मृषावादस्य वादं वदति द्वितीयः ॥ २ ॥ अदि०-अदत्तादानस्य वादं वदति तृतीयः ॥ ३ ॥ अवि०-[1]अविरतियत्ते यद्वा न विद्यते विरतिरस्याः सा अविरतिका स्त्री सेवारूप तद्वादं वदति चतुर्थः ॥ ४ ॥ अपु०-अपुरुषः-नपुंसकः तद्वादं वदति पञ्चमः ॥ ५ ॥ दास-दासवादं वदति षष्ठः ॥ ६ ॥ इच्चेते-इतीति उपदर्शने-एवं प्रकारान् एतान् षट् कल्पस्य पत्थ० प्रस्तारान् प्रायश्चित्तरचनाविशेषान् मासगुर्वादयः पाराञ्चिकपर्यन्ताः (तान्) पत्थरे-प्रस्तीर्य। अभ्युपगमनम् (अभ्युपगम्य) आत्मनि प्रस्तुतान् विधाय प्रस्तारयिता वा अभ्याख्यान दाता साधुः सम्यगप्रतिपूरयन्, अभ्याख्येयार्थस्यासद्भूततया अभ्याख्यान समर्थनंकर्तुमशक्नुवन्। तस्यैव प्राणातिपातादिकर्तुरिव स्थानं प्राप्तः तत् स्थानप्राप्तः स्यात्, प्राणातिपातादिकारीव दण्डनीयो भवेत् इति भावः। अथवा प्रस्तारान् प्रस्तीर्य विरचय्य आचार्येण अभ्याख्यान दाता अप्रतिपूर्यन् अपराऽपर प्रत्ययवचनैस्तमर्थं सत्यमकुर्वन् 'तट्ठाणसस्थान प्राप्तः कर्तव्य इति शेषः। यत्र प्रायश्चित्तपदे विवदमानोऽवतिष्ठते-न पदान्तरमारभ्यते तत्पदं प्रापणीय इतिभावः। एष सूत्रार्थः ॥ २ ॥

मूल-"निग्गंथस्स य अहेपायंसि खाणू वा कंटए वा हीरे वा सक्करे वा परियावज्जेज्जा, तं च निग्गंथे नो संचाएज्जा नीहरित्तए वा विसोहेत्ताए वा, तं च निग्गंथी नीहरमाणी वा विसोहेमाणी वा णाइक्कमइ ॥ ३ ॥

मूल-"निग्गंथस्स य अच्छिंसि पाणे वा बीए वा रए वा परियावज्जेज्जा, तं च निग्गंथो नो संचाएज्जा[2] नीहरित्ताए वा विसोहेत्ताए वा, तं च निग्गंथी नीहरमाणी वा विसोहेमाणी वा णाइक्कमइ ॥ ४ ॥

मूल-"निग्गंथीए य अहेपायंसि खाणू वा कंटए वा [3]हीरे वा सक्करे वा परियावज्जेज्जा, तं च निग्गंथी नो संचाएज्जा नीहरित्ताए वा विसोहित्तए वा, तं च निग्गंथे नीहरमाणे वा विसोहेमाणे वा णाइक्कमइ ॥ ५ ॥

मूल-"निग्गंथीए य अच्छिंसिपाणे वा बीए वा रए वा परियावज्जेज्जा तं च निग्गंथी नो संचाएइ नीहरित्ताए वा विसोहित्ताए वा तं च निग्गंथे नीहरमाणे वा विसोहेमाणे वा णाइक्कमइ ॥ ६ ॥

१-अविरतिः-अत्र न यद्वानविद्यते विरतिरस्याः सा अविरतिका स्त्री आ० मा०।

२-संचाएः इ० छि०।

३ हीरए आ० मा०।

अस्य सूत्र चतुष्टयस्य व्याख्या-

टीका--निग्ग०--निर्ग्रन्थस्य अधः पादे-पादतले स्थाणुर्वा कण्टको वा हीरो वा काचविशेषो वा शर्करा वा पर्यापतेत्-अनुप्रविशेत्, 'तंच नि०'-तच्च कण्टकादिकं निर्ग्रन्थो न शक्नुयान्नीहर्तुं वा-निष्काशयितुं वा 'विसो०-विशोधयितुं वा-निश्शेषमपनेतुम्" तंच नि०-तच्च निर्ग्रन्थी निर्हरन्ती वा विशोधयन्ती वा नातिक्रामति आज्ञामिति गम्यते, इति प्रथम सूत्रम् ॥ ३ ॥

टीका--निग्गं०-निर्ग्रन्थस्य 'अच्छिं' अक्षिण-लोचने प्राणा वा मशकादयः सूक्ष्माः 'बीए'--बीजानि वा सूक्ष्माणि श्यामाकादीनि 'रएवा' रजो वा-सचित्तमचित्तं वा पृथ्वीरजः, 'परि०'-पर्यापतेत्-प्रविशेत्, तच्च प्राणादिकं निर्ग्रन्थो न शक्नुयात् नीहर्तुमित्यादिप्राग्वत् ॥ ४ ॥

टीका--(तृतीय चतुर्थ सूत्रे निर्ग्रन्थी विषये एवमेव व्याख्यातव्ये) इति सूत्र चतुष्टयार्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥

मूल-"निग्गंथे निग्गंथीं दुग्गंसि वा विसमंसि वा पव्वयंसि वा 'पक्खलमाणिं वा पवडमाणिं वा गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा णाइक्कमइ ।७।

टीका--अस्य सूत्रत्रयस्य व्याख्या--निर्ग्रन्थो निर्ग्रन्थीं दुर्गे वा विषमे वा पर्वते वा, त्रिविधश्च भवति दुर्गं तद्यथा--वृक्षदुर्गं श्वापददुर्गं, मनुष्यदुर्गं च। यद्वृक्षैरतीवगहनतया दुर्गमम् यत्र वा पथि वृक्षः पतितस्तद्वृक्षदुर्गम्। यत्रव्याघ्र-सिंहादीनांभयं तत्-श्वापददुर्गम्। यत्रम्लेच्छबोधिकादीनां मनुष्याणां भयं तद्-मनुष्यदुर्गम्। एतेषु त्रिष्वपि दुर्गेषु यदि निष्कारणे निर्ग्रन्थीं गृह्णाति अवलम्बते वा तदाचतुर्गुरु। त्रिविधश्चभवति विषमम्-भूमिविषमम, श्वापद विषमम्, मनुष्यविषमं-च। भूमिविषमं नाम गर्तापाषाणाद्याकुलो भूभागः, श्वापदमनुष्यविषमे तु श्वापदमनुष्यदुर्गवज्ज्ञेये। अत्र भूमिविषमेणाधिकारः, पव्व० पर्वतपदं तु प्रतीतत्वात् न व्याख्यातम् 'पक्खलमाणं'-प्रकर्षेण स्खलद् गत्यागच्छन्तीं भूमौ असम्प्राप्तां वा पतन्तीं पतितुकामामित्यर्थः। पव०--प्रकर्षेण भूमौ सर्वैरपिगात्रैः पतन्तीं, 'गिण्ह०-बाह्वादावङ्गे गृह्णन् वा, अवलम्बमानो वा बाह्वादौगृहीत्वा

धारयन् अथवा गृह्णन् सर्वाङ्गीणां धारयन्, अवलम्बमानो देशतः करेण गृह्णन्-साहयन् इत्यर्थः-नातिक्रामति स्वाचारमाज्ञां वा इति प्रथम सूत्रम् ॥ ७ ॥

मूल-"निग्गंथे निग्गंथीं सेयंसि वा पंकंसि वा पणगंसि वा उदयंसि वा ओकसमाणिं वा ओवुज्झमाणिं वा गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ ॥ ८ ॥

टीका--व्याख्या पूर्ववत्-'नवरम्-सेयं-सेको नाम पङ्कपनके वा सजले यत्र निमज्ज्यते तत्र वा, पंक-पङ्कः कर्दमः, तत्र वा, पनको नाम आगन्तुकः प्रतनुद्रवरूपः कर्दम एव तत्र वा, उदकं-प्रतीतम्, तत्र वा, उकसमा०-अपकसन्तीं वा पङ्कपनकयोः परिहसन्तीं[1] ओबुज्झ०-अपोह्यमानां वा, सेकेन-उदकेन वा नीयमानां गृह्णन् वा अवलम्बमानो वा नातिक्रामति ॥ ८ ॥

मूल-"निग्गंथे निग्गंथिं नावं[2]आरोहमाणिं वा उरोहमाणिं वा गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ ॥ ९ ॥

टीका--तृतीयसूत्रे निर्ग्रन्थीमेव नावम् आरोह०-आरोहन्तीम् (आरूढमानाम्) उरो० अवरोहन्तीम्-नाव्युत्तरमाणाम्, गिण्ह०-गृह्णन् वा अवलम्बमानो वा नातिक्रामति, इति सूत्रार्थः ॥ ९ ॥

मूल-"खित्तचित्तं निग्गंथिं निग्गंथे गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ ॥ १० ॥

टीका--खित्तचित्तं ति-क्षिप्तं-नष्टं रागभयाऽपमानैश्चित्तं यस्याः सा क्षिप्तचित्ता, ताम् निर्ग्रन्थीं वा निर्ग्रन्थोगृह्णानो वा अवलम्बमानो वा नातिक्रामत्याज्ञामिति सूत्रार्थः ॥ १० ॥

मूल-"दित्तचित्तं निग्गंथिं निग्गंथे गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ ॥ ११ ॥

टीका--दित्त०-अस्य व्याख्या प्राग्वत्, 'नवरम्'-दीप्तचित्ता-लाभादिमदेन परवशीभूतहृदया ताम् ॥ ११ ॥

1-परिह्लसन्तीं मा० भा० । 2-आरुभमाणि वा ओरुममाणि वा मा० भा० ।

मूल—"जक्खाइट्ठं निग्गंथिं निग्गंथे गिरहमाणे वा अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ ॥ १२ ॥

टीका—जक्खा०—अस्य व्याख्या प्राग्वत्, नवरम्—यक्षाविष्टाम्—यक्षो देवता-पूर्वसंस्तुतादिः। तेनाऽधिष्ठिताम, इति ॥ १२ ॥

मूल—उम्मायपत्तं निग्गंथिं निग्गंथे गिरहमाणे वा अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ ॥ १३ ॥ उवसग्गपत्तं निग्गंथिं निग्गंथे गिरहमाणे वा अवलंब-माणे वा नाइक्कमइ ॥ १४ ॥

टीका—अस्य सूत्रद्वयस्य व्याख्या प्राग्वत्। नवरम्—उन्मादप्राप्ताम् ॥ १३ ॥ उवसग्ग—उपसर्गप्राप्ताम् ॥ १४ ॥

मूल—"साहिगरणं निग्गंथिं निग्गंथे गिरहमाणे वा अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ ॥ १५ ॥

टीका—साहि०—अस्य व्याख्या प्राग्वत्, अत्र भाष्यम्—उप्पन्ने इति संयत्या गृहस्थे-नसममधिकरणे उत्पन्ने द्विविधमतिक्रमं दृष्ट्वा तस्याधिकरणस्य व्यवशमनं कर्तव्यम् किमुक्तं भवति ? स गृहस्थोऽनुपशान्तः सन् तस्याः संयत्याः संयमभेदं जीवितभेदं वेति द्विविधमतिक्रमं कुर्यात्, तदुपशमयितव्यमधिकरणम्। कथमित्याह—यस्तस्याः संयत्याः प्रतिपक्षो गृहस्थः तस्य प्रथमतः कोमलवचनैरनुशासनं कर्तव्यम्। तथा-प्यतिष्ठति भीषणं-भापणं कर्त्तव्यम, तथाप्यभिभवतो निरुंभणं यस्य या लब्धि-स्तेन तया निवारणं कर्तव्यम् ॥ १५ ।

मूल—"सपायच्छित्तं निग्गंथिं निग्गंथे गिरहमाणे वा अवलंबमाणे वा णाइक्कमइ ॥ १६ ॥

टीका—सपाय०—अस्य व्याख्या प्राग्वत, नवरम्—सा सप्रायश्चित्ता तत्प्रथमतायां प्रथमतः प्रायश्चित्ते दीयमाने भयेन—कथमहमेतत्प्रायश्चित्तं वक्ष्यामि ? इत्येवं रूपेण विषण्णा भवेत्, यदि वा प्रायश्चित्तं वहन्ती तपसा क्लान्ता भवेत्, तत्रेयं यतना—पायच्छित्ते दिएणे, भीताए विसज्जणं किलंताए। अणुसट्ठि वहंतीए, भएण खित्ताइ तेइच्छं ॥ प्रायश्चित्ते दत्ते यदि विभेति ततस्तस्या भीतायाः क्लान्तायाश्च विसर्जनं, प्रायश्चित्तमुत्कलं क्रियत इत्यर्थः ॥ अथ वहन्ती क्लाम्यति ततस्तस्या वहन्त्या अनुशिष्टिर्दीयते यथा मा भैषीः बहुगतं स्तोकं तिष्ठति, यदि वा वयं साहा-

र्यं करिष्याम इति । अथैवमनुशास्यमानाऽपि भयेन क्षिप्तचित्ता भवति ततस्तस्याः चैकित्स्यं-चिकित्सायाः कर्म कर्त्तव्यम् ॥ १६ ॥

मूल—"भत्तपाण पडियाइक्खियं निग्गंथिं निग्गंथे गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ ॥ १७ ॥

टीका—भत्तपाण०—'अस्य व्याख्या प्राग्वत्, नवरम् भक्तं च पानं च भक्तपाने ते प्रत्याख्याते यया सा तथोक्ता। क्तान्तस्य परनिपातः सुखादिदर्शनात् ॥ १७ ॥

मूल—"अट्ठजायं[1] निग्गंथिं निग्गंथे गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा णाइक्कमइ ॥ १८ ॥

टीका—'अट्ठजा०'—अस्य व्याख्या प्राग्वत्। साम्प्रतम् अर्थजातशब्द व्युत्पत्ति-प्रतिपादनार्थमाह—अट्ठ'त्ति-अर्थेन-अर्थितया संजातं कार्यं यया। यद्वा अर्थेन-द्रव्येण जातम् उत्पन्नं कार्यं यस्याः सा अर्थजाता गमकत्वादेवमपि समासः। उपलक्षणमेतत्, तेनैवमपि व्युत्पत्तिः कर्त्तव्या-'अर्थः प्रयोजनं जातोऽस्या इति अर्थजाता। कथं पुनरस्या अवलंबनं क्रियते? इत्याह तां पुनः प्रथमव्युत्पत्तिसूचितां संयम भावात् चाल्यमानाम्' द्वितीय तृतीय व्युत्पत्तिपक्षे तु द्रव्याऽभावेन प्रयोजनाऽनिष्पत्त्या वा सीदन्तीं समवलंबेत-साहाय्यकरणेन सम्यग् धारयेत, उपलक्षणत्वाद्गृह्णीयादपि ॥ १८ ॥

मूल—"छ कप्पस्स पलिमंथू पण्णत्ता तंज्जहा कुकुइए संजमस्स पलिमंथू १ मोहरिए सच्चवयणस्स पलिमंथू २ तिंतिणीए एसणा गोयरस्स पलिमंथू ३ चक्खूलोलूए इरियावहियाए पलिमंथू ४ इच्छालोभए मुत्तिमग्गस्स पलिमंथू ५ भिज्जा[2] नियाणकरणे मोक्खमग्गस्स पलिमंथू ६ सव्वत्थ भगवया अणियाणया पसत्था ॥ १९ ॥

टीका—छकप्पस्स०— षडिति षट्संख्या कप्प-कल्पस्य-कल्पाध्ययनोक्त साधुसमाचारस्य परि-सर्वतो मथ्नन्ति विलोडयन्ति (इति) परिमन्थवः, उणादित्वात्-'उ' प्रत्ययः। पाठान्तरेण परिमन्था वा व्याघातकाः इत्यर्थः। प्रज्ञप्तास्तीर्थकरादिभिः प्रणीताः, तद्यथा कुकु०-कुचणअवस्यन्दने इतिवचनात् कुत्सितम्-अप्रत्युपेक्षि-

१ अट्ठजायम्मि आ० भा०।

२ भुज्जो भा० भा०।

तत्त्वादिना, कुचितम्-अवस्यन्दितं यस्य स कुकुचितः स एव प्रज्ञादि दर्शनात् स्वार्थिकाण् प्रत्यये कौकुचितः, कुकुचा वा अवस्यन्दितं प्रयोजनमस्येति कौकुचिकः, ससंयमस्य पृथिव्यादिरक्षणरूपस्य परिमंथो व्याघातकारी ॥१॥ मोहरी-मुखं-प्रभूत भाषणातिशायिवदनमस्यास्तीति, मुखरः स एव मौखरिको बहुभाषी। विनयादेराकृतिगणत्वादिकन् प्रत्ययः। यद्वा मुखेन अरिमावहतीति व्युत्पत्त्या निपातनान्मौखरिकाः, सत्यवचनस्य मृपावाद विरतेः परिमन्थुः। मौखर्ये सति मृषावाद सम्भवात् ॥ २ ॥ चक्खु:-चक्षुपा लोलःचञ्चलो यद्वा चक्षुः लोलंयस्य स चक्षुलोलः सन् स्तूप देवकुलादीनि विलोकमानो व्रजति, ईर्यागमनम्-तस्याः पन्थाः ईर्यापथः तत्रभवा या समितिः सा ऐर्यापथिकी-ईर्यासमितिः, तस्याः परिमन्थुर्भवति ॥ ३ ॥ तितिणि०-तिन्तिनीकः--आहाराद्यभावे खेदात्, यत्किञ्चनाभिधायी, स एपणा-उद्‌गमादिदोषविमुक्त-भक्तपानादिगवेषणारूपा तत्प्रधानो यो गोचरः गौरिव मध्यस्थतया भिक्षार्थंचरणं स एपणागोचरः, तस्य परिमन्थुः, सखेदो हि अनेपणीयमपि गृह्णाति इतिभावः ॥ ४ ॥ इच्छालोभ-इच्छा अभिलापः सचासौ लोभश्च इच्छालोभः महालोभः-इत्यर्थः, यथा निद्रा निद्रा महानिद्रा इति, सचइच्छालोभः-अधिकोपकरणादि मेलन लक्षणः मुक्ति मार्गस्य-मुक्ति-र्निःपरिग्रहत्वम्, अलोभतेत्यर्थः, सैव निवृत्तिपुरस्य मार्ग इव मार्गः, तस्य परिमन्थुः ॥ ५ ॥ भिज्जत्ति 'मा लोभः तेन यत् निदान करणं देवेन्द्र चक्रवर्त्यादिविभूति प्रार्थनम्, तन्मोक्षमार्गस्य सम्यग्दर्शनादिरूपस्य परिमन्थुः। आर्तध्यान चतुर्थभेदरूपत्वात्। भिज्जाग्रहणेन यत् अलोभस्य भव निर्वेदमार्गानुसारितादि प्रार्थनं तन्न मोक्षमार्गस्य परिमन्थुरित्यावेदितं प्रतिपत्तव्यम् ॥ ६ ॥ ननुतीर्थकरत्वादि प्रार्थनम्, न राज्यादिप्रार्थनवत्-दुष्टम्, अतस्तद्विपयं निदानं मोक्षस्य परिमन्थुर्नभविष्यति ? नैवम्, यतआह-"सव्वत्थ०-इत्यादि। सर्वत्र तीर्थकरत्व-चरमदेहत्वादि विपयेऽपि" आस्तां राज्यादौ। अनिदानता-अप्रार्थनमेव भगवता-समग्रैश्वर्यादिमताश्रीमन्महावीरस्वामिना 'पसत्थेत्ति' प्रशंसिता-श्लाघिता, एप सूत्रार्थः ॥ १६ ॥

मूल—छव्विहाकप्पट्ठिईपन्नता, तंजहा—सामाइयसंजयकप्पट्ठिई १, छेओवट्ठावणिय संजयकप्पट्ठिई २, निव्विसमाणकप्पट्ठिई ३, णिव्विट्ठकाइय कप्पट्ठिई ४, जिणकप्पट्ठिई ५, थेरकप्पट्ठिई ६, त्तिबेमि ॥ २० ॥ सिरि कप्पे छट्ठोद्देसको समत्तो ।

टीका छव्विहा कप्प०,–षड्विधा–षट्प्रकारा कल्पे कल्पशास्त्रोक्त साधुसमाचारेस्थितिरवस्थानं कल्पस्थितिः, कल्पस्य वा स्थितिः–मर्यादा-कल्पस्थितिः प्रज्ञप्ता–तीर्थंकरगणधरैः प्ररूपिता। तद्यथा-इति उपन्यासार्थः। सामा०–'सामायिक संयत कल्पस्थितिः समो-राग द्वेषरहितः, तस्य आयः–लाभो ज्ञानादीनां प्राप्तिरित्यर्थः, समाय एव सामायिकं सर्वसावद्ययोगविरतिरूपं, तत्प्रधानाः ये संयताः–साधवः, तेषांकल्पस्थितिः सामायिक संयत कल्पस्थितिः। १। छेदो० तद्यथा-पूर्वपर्यायच्छेदेन उपस्थापनीयमारोपणीयं यत् तत्-छेदोपस्थापनीयम्,व्यक्तितो महाव्रतारोपणमित्यर्थः, तत्प्रधाना ये संयताः, तेषां कल्पस्थितिः,–छेदोपस्थानीय संयतकल्पस्थितिः। २। निव्वि०—निर्विशमानाः–परिहार विशुद्धि कल्पं वहमानाः तेषां कल्पस्थितिः निर्विशमान कल्पस्थितिः ॥ ३ ॥

णिवि०–निर्विष्टकायिका नाम–यैः परिहार विशुद्धिकं तपो व्यूढम्, निर्विष्टः आसेवितो विवक्षित चारित्रलक्षणःकायोयैस्ते निर्विष्टकायिका इति व्युत्पत्तेः, तेषां कल्पस्थितिः, निर्विष्टकायिक कल्पस्थितिः॥४॥ जिणक०–जिनाः–गच्छनिर्गताः–साधुविशेषाः, तेषां कल्पस्थितिः–जिनकल्पस्थितिः ॥ ५ ॥ थेरक०–स्थविरा–आचार्यादयो गच्छप्रतिबद्धास्तेषां कल्पस्थितिः स्थविरकल्पस्थितिः ॥ ६ ॥ इति–अध्ययन परिसमाप्तौ। ब्रवीमीति–तीर्थंकर गणधरोपदेशेन सकलमपि प्रस्तुत शास्त्रोक्तं कल्पाऽकल्पविधिं भणामि न पुनः स्वमनीषिकया इति सूत्र संक्षेपार्थः ॥ २० ॥

इति बृहत्कल्पसूत्रस्य षष्ठ उद्देशकः समाप्तः ॥

श्री बृहत्कल्पसूत्रस्य

परिशिष्टानि

—: परिशिष्टानुक्रमणिका :—

प्रथमं परिशिष्टम्

श्रीबृहत्कल्पसूत्रस्य–उद्देशकानुसारी अकारादिवर्ण क्रमेण शब्दार्थनिर्देशः

अ

उद्देश–	सूत्र–	शब्द–	अर्थ–
१	१–२	अभिण्णे	विधि से न काटे गए,
१	६	अंसि अंसि	ग्राम का आधा, चौथाई भाग
१	६ ८	अबाहिरियंसि	जो ग्राम आदि से बाहर न हो
१	६	अंतो	भीतर
१	६	अंतो भिक्खायरिया	भीतर गोचरी करना
१	६	अंतोवसमाणीणं	भीतर में वसती हुई
१	११	अभिणिवगडाए	अनेक आवरण वाले
१	११	अभिणिदुवाराए	अनेक द्वारवाले
१	११	अभिणिक्खमणपवेसाए	निकलने व प्रवेशकरने के दरवाजावाले
१	१२	अंतरापणंसि	दूकान के भीतर
१	१४	अंतोकिच्चा	उपाश्रय के भीतर
१	१४–१५	अंवगुयदुवारिए	खुले द्वारवाले
१	१६–१७	अंतोलित्तयं	भीतर में लीपा हुआ
१	१६	असनं	भोजन
१	२१	अचित्तकम्मे	चित्ररहित (गृह)
१	२२–२४	अणिस्साए	शय्यातरसे ग्रहण न किया गया
१	२६	अप्पसागारिए	गृहपति की थोड़ी वस्तु सहित
१	३५	अहिगरणं	कलह
१	३५	अविओसवित्ता	बिना उपशमन किए

उद्देश-	सूत्र-	शब्द-	अर्थ-
२	३५	अत्थि	है
१	३५	अप्पणा	आत्मा से (स्वयं)
१	३५	अब्भुट्ठे ज्जा	आदर के लिए खड़ा होवे
१	३८	अइक्कममाणे	उल्लंघन करता हुआ
१	३८	अणुग्घाईयं	गुरु प्रायश्चित्त
१	३६	अणुप्पविट्ठं	प्रवेश किए हुए
१	३६	अणुण्णवित्ता	अनुज्ञा लेकर
१	४७	अद्धाण गमणं	मार्ग में जाना
१	४६	अप्प बिइयस्स	आत्मा ही है दूसरा
१	४६	अप्प तइयस्स	आत्मा ही है तीसरा
१	५१	अंग	चम्पा नगरी से सम्बन्धित देश
२	१-४	अंतोवगड़ाए	दरवाजे के भीतर का भाग
२	४	अहालंदमवि	थोड़ाकाल भी
२	११-१२	अब्भावगासियंसि	मध्य की खुली जगहों में
२	१३	अवसेसे	बाकी बचे गृहों में
२	१४	अनीहरं	नहीं लेगए, नहीं निकाले गए
२	१४-१५	असंसट्ठं	न मिला हुआ
२	१७-१८	अपडिग्गहिया	नहीं ली हुयी वस्तु
२	१६	अनिज्जूढ़ाओ	नहीं ढंकी हुई
२	१६	अविभत्ताओ	पृथक् नहीं की हुई
२	१६	अव्वोच्छिन्नाओ	निश्चित न की हुई
२	१६	अव्वोगड़ाओ	विशेष रीति से प्रकट न की गई
२	१६	अंसिआओ	अंशिका (हिस्से की चीज)
२	२२-२३	अपाडिहारिए	अप्रातिहारिक
३	३-४	अहिट्ठित्तए	बैठक में काम लेना
३	४	अणेगराइए	कई रातें (रात्रियां)
३	५	अपरिभुत्ते	उपयोग में न लाए हुए

उद्देश-	सूत्र-	शब्द-	अर्थ-
३	२६	अणुचरियासु	नगर गृह और नगर कोट के—मध्य का मार्ग
३	२६	अणुभित्तिसु	,, ,,
३	२६	अणुफरिहासु	परिखा-खाई के समीप
३	२६	अणुपंथेसु	मार्ग के समीप
३	२६	अणुमेरासु	ग्राम नगर की सीमा के समीप
४	२	अन्नमन्नं	परस्पर
४	३	अणवट्ठप्पा	तत्काल व्रत में नहीं रखने योग्य
४	३	अन्नधम्मियाणं	पर धर्म वाले का
४	१०	अविओसवियपाहुडे	तीव्रतर क्रोध जिसका शान्त नहीं है
४	१०	अविणिय	अविनीत
४	१३	अमूढे	जो मूढ़ न हो
४	१३	अदुट्ठे	गुरुजनों के प्रति द्वेष नहीं-करने वाला
४	१३	अवुग्गाहिए	उलट मार्ग पर न ले जाया गया हो
४	१४	अणुग्घाइयं	बड़ा प्रायश्चित
४	१६	अणुप्पएज्जा	दूसरों को देवे
४	१६	अप्पणा	आत्मा से-स्वयं
४	१७	अद्धजोयणमेराए	आधा योजन की मर्यादा से
४	१८	अचित्ते	निर्जीव
४	१८	अणुवट्ठावियए	महाव्रतों में नहीं लाए गए
४	१८	अणेसणिज्जे	नहीं लेने योग्य-सदोष आहार
४	१८	अणुप्पदाउं	पीछे देने के लिए
४	१६	अकप्पट्ठियाणं	आचेलक आदि दश प्रकारके साधु

उद्देश–	सूत्र–	शब्द–	अर्थ–
४	२०, २२	अवक्कम्म	बाहर निकलकर
४	२०	अण्णं (अन्नं)	दूसरे
४	२४-२८	अनिक्खिवित्ता	बिना त्याग
४	२८	अदीवित्ता	बिना समझाए
४	३०	अकरणयाए	नहीं करने के लिए
४	३३	अंतोमासस्स	मास के भीतर
४	३४	अप्पंडेसु	अल्प अंडा वाले
४	३४	अप्पबीएसु	अल्प बीज वाले
४	३४	अप्पुस्सेसु	अल्प ओस वाले (तुषारयुक्त)
४	३४	अप्पहरिएसु	अल्प हरित वाले
४	३४	अप्पपाणेसु	अल्प प्राणिवाले
४	३४	अप्पुत्तिंगपणगदगमट्टिय	अल्प कीटक नगरा पांच वर्ण-का पनक आदि
५	५	अविओसवित्ता	शमन करके या शान्त करके
५	६	अह	बाद (तदनन्तर)
५	६	अणुग्गए	सूर्य के उदय न होने पर
५	६	अत्थमिए	सूर्य के अस्त होने पर
५	६	अन्नेसिं	दूसरों को
५	६	अइक्कमइ	उल्लंघन करता है
५	७-८	अणत्थमियसंकप्पे	सूर्य के रहते भोजनकी इच्छा रखने वाले अथवा पर्याप्त आहार नहीं मिलने से पुनः भोजन की इच्छा वाले
५	११	अंतोपडिग्गहंसि	परिग्रह के भीतर
५	१६	अचेलियाए	वस्त्र रहित
५	१७	अपाइयाए	पात्रों से रहित साध्वी

उद्देश–	सूत्र–	शब्द–	अर्थ–
५	२९	अंबखुज्जियाए	आम्रकुब्जिका नाम के आसन से
५	३७	अन्नमन्नस्स	एक दूसरे का
५	४०	अब्भंगित्तए	शरीर में मालिश करना
५	४१	अंतिए	समीप में
५	४१	अहालहुस्सए	प्रायश्चित्त विशेष
५	४१	अइक्कमेज्जा	(पाद धावन आदि कर्म से) उल्लंघन करे
५	४२	अन्नयरे	कोई एक
६	१	अवयणाइं	न बोलने योग्य वचन
६	१	अलिय वयणे	मिथ्या वचन
६	२	अविरइय	अविरति-स्त्रीसेवा के वाद
६	२	अपुरिसवाय	नपुंसक के समान बोलना
६	२	अदिन्नादाण	किसी के दिए बिना लेना
६	२	अपडिपूरेमाणे	सत्य न करता हुआ
६	४	अच्छिंसि	आंख में
६	५	अहेपायंसि	पैर के नीचे
६	७-८-९	अवलंबमाणे	पकड़ता हुआ (आधार देता हुआ)
६	१८	अट्ठजायं	किसी कार्य के वशीभूत
६	१९	अणियाणता	किसी भी फल की चाह नहीं करना

(आ)

१	१	आमे	कच्चे
१	६	आगरंसि	आकर अर्थात् खान में
१	६	आसमंसि	आश्रम अर्थात् साधुओं के मठ में

उद्देश–	सूत्र–	शब्द–	अर्थ–
१	१३	आवणगिहंसि	दूकान के घर में
१	३५	आढ़ाएज्जा	आदर करे
१	३५	आराहणा	पालन करना
१	३८	आयज्जइ	प्राप्त करता है
१	३८	आगमणं	आना
१	५१	आरिए खेत्ते	आर्यक्षेत्र
२	११	आगमण गिहंसि	पथिकों के आने के गृह में
२	१७	आहडिया	सन्देश (उपहार)
३	२०	आइक्खित्तए	कहने को
३	२२	आयाए	लेकर
३	२५	आगच्छिज्जा	आवें
४	१६	आहच्च	कदाचित्–लाकर
४	२३-२७	आपुच्छित्ता	पूछकर
४	२३	आयरियं	आचार्य को
४	२७	आयरिय उवज्झायं	आचार्य और उपाध्याय को
४	३०	आलोइज्जा	अपने अपराध को वचन से प्रकट करे
४	३०	आहारिहं	यथा योग्य–अपराध के अनुकूल
४	३०	आइयइ	लेता है
४	३०	आइतव्वे	ग्रहण करने योग्य
४	३०	आउरे	बीमार पड़ा
५	७	आहारं	चतुर्विध भोजन
५	७	आहारेमाणे	भोजन करते हुए
५	१९	आयावणाए	आतापना से
५	१९	आयावित्तए	आतापना लेने को
५	३१	आकुंचण पट्टगं	वस्त्र विशेष
५	३२	आसइत्तए	बैठने को
५	३२	आसणंसि	आसन पर

उद्देश–	सूत्र–	शब्द–	अर्थ–
५	३७	आइयत्तए	पीने को
५	३७	आइमित्तए	आचमन को
५	३७	आगाढ़ेसु	ज्वर आदि रोगों का
५	३७	आयंकेसु	आतङ्क-भय
५	३८	आहारस्स	चतुर्विध आहार के
५	३९	आलेवण जाएणं	लेप के साधनों से
५	३९	आलिंपित्तए	आलेपन करने को
५	४१	आगमेणं	अवधि आदि अतिशयज्ञान से
६	६	आरोहमाणिं	चढ़ती हुई

(इ)

१	७	इक्कं	एक
१	२७	इत्थी सागारिए	स्त्री गृहस्वामिनी वाले
१	३५	इच्छाए	अपनी इच्छा से
२	२४	इमाइं	ये-आगे कहे जाने वाले
३	२४	इह	यहां-इसमें
४	१८	इत्थ	यहां
४	२०	इच्छेज्जा	चाहे-इच्छा करे
४	२६	इच्छिज्जा	इच्छा करे
४	३२	इमाओ	ये
४	३३	इरावइ	नदी विशेष (इरावती)
५	१	इत्थीरूवं	स्त्री स्वरूप को
५	१	इच्चेते	ऐसे, ये, इतने
५	१३	इंद्रियजायं	इन्द्रिय विशेष को
६	१६	इरियावहियाए	जाने आने रूप समिति के
६	१६	इच्छालोलए	इच्छा से लालची

(उ)

उद्देश-	सूत्र-	शब्द-	अर्थ-
१	११	उवत्थए	बसने को
१	१४	उवस्सए	उपाश्रय में
१	१६	उच्चारं	मलोत्सर्ग
१	३५	उवसमियव्वं	उपशान्त करने योग्य
१	३५	उवसमेज्जा	उपशान्त हो
१	३५	उवसमइ	उपशान्त होता है
१	३५	उवसमसारं	उपशम ही सार रूप है
१	३६	उग्गहं	अपने उपयोग में लेने को
१	३६	उवनिमंतेज्जा	लेने आदि की प्रार्थना करे
१	५१	उत्तरेणं	उत्तर दिशा में
१	५१	उस्संपंति	बढ़ते हों, वृद्धिगत हों
२	१	उक्खित्ताणि	फेंके हुए
२	२	उक्खित्ताइं	छींटे गए, फेंके गए
२	२२	उवगरणजाए	उपकरणजात-भण्डोपकरण आदि
२	२४	उट्टिए	ऊंट के रोमसे बने हुए
२	२४	उण्णिए	ऊनों से बने हुए
३	१०	उग्गहणंतगं	गुह्य देशको ढकने वाला वस्त्र
३	१०	उग्गह पट्टगं	अवग्रहानन्तक को ढकने वाला
३	१२	उवज्झाए	उपाध्याय
३	२५	उग्गहस्स	अवग्रहके-लिए हुए उपाश्रय आदि के
३	३०	उवाइणाइ	निवास करके स्वीकार करता
३	३०	उवाइणावित्तए	निवास से स्वीकार करने योग्य
३	३०	उवातिणंतं	निवास पूर्वक बिताते हुए
४	५	उवट्ठावित्तए	महाव्रतों में लाने योग्य
४	२१	उवसंपज्जित्ता	प्राप्त करके

उद्देश-	सूत्र-	शब्द-	अर्थ-
५	१४	ओगाहिज्जा	स्पर्श करे
५	२७	ओमंथियाए	नीचे मुख सोने वाली
६	८	ओकम्ममाणि	फिसलती हुई
६	८	ओवुज्झमाणि	बहती हुई
		(क)	
१	५	कव्वडंसि	कर्वट-खराब शहर
१	३५	कट्टु	करने को
१	३५	किमाहु	ऐसा क्यों कहा ?
१	३६	कंवलेण	कम्बल के लिए
१	५१	कोसंबीओ	कोशाम्बा नगरी से
१	५१	कुणाल विसयाओ	कुणाल देश से
२	१	किन्नाणि	बिखरे हुए
२	१	कुलत्थाणि	कुलथी धान्य विशेष
२	२	कुलियाकडाणि	पृथक् २ इकट्ठे किए
२	१०	कोट्ठा उत्ताणि	कोठार में रक्खे हुए
२	१०	कुंभी उत्ताणि	कोठी में रक्खे हुए
२	१०	करभि उत्ताणि	पात्र विशेष में रक्खे हुए
२	१३	कप्पागं	एक को मुख्य बनाकर
२	१६	करेंतं	करते हुए को,
३	६	कसिणाइं	समस्त-अखण्ड
३	१७	कप्पइ	कल्पता है
३	१८	किइकम्मं	वन्दना-नमस्कार
३	१८	करित्तए	करने को
३	१९	किलंते	थके-बीमार हुए
३	२०	किट्टित्तए	कीर्तन-विशेष कथन करे
३	२६	केइ	कुछ किञ्चित्
४	१	काउस्सग्ग	कायोत्सर्ग

उद्देश-	सूत्र-	शब्द-	अर्थ-
४	१	करेमाणे	करता हुआ
४	४	कीवे	नपुंसक
४	१९	कप्पट्ठिय	अचेलक्य आदि कल्पों में स्थित
४	१६	कडे	किया हुआ
४	३३	किच्चा	करके
६	२	कप्पस्स	कल्प साधु समाचार का
६	१६	कुकुइए	कौकुचिक पृथ्वी काय की रक्षा नहीं करने वाला
		(ख)	
१	५	खेडंसि	छोटे गांव में
१	१६	खेलं	कफ को
१	१६	खाइमं	चार आहारों में एक
१	३५	खु	उपदर्शक अव्यय
१	५१	खेत्तो	प्रदेश में
२	८	खीरे	दूध
६	१	खिंसिय	खिसला कर कहा गया
६	३	खाणू	स्थाणु-ठूंठ
६	१०	खित्तचित्तं	राग, भय, अपमान से विक्षिप्त
		(ग)	
१	५	गामंसि	गांव में
१	३३	गाहावइ	गृहस्वामी
१	३३	गाहावइ कुलस्स	गृहस्वामी के परिवार का
१	३३	गंतुं	जाने के लिए
१	३७	गमणं	जाना
१	३७	गमणागमणं	जाना आना
१	३६	गहाय	लेकर
१	४७	गमणं एत्तए	मार्ग गमन प्राप्त करने को

उद्देश-	सूत्र-	शब्द-	अर्थ-
२	१	गोहुमाणि	गोधूम-गेहूं
२	३	गुत्तानि	छिपाकर रक्खे हुए
३	१२	गणधरे	गच्छ के अधिपति
३	१२	गणावच्छेइए	गणावच्छेदक
३	१२	गणी	गणी
३	१२	गणहरं	गणधर को
३	१३	गोच्छगमायाए	गोच्छक-पूंजनीजघन्यउपधि-उपकरण लेकर
३	२०	गाहं	गाथाओं को
४	१४	गिलायमाणि	शरीर की हानि से हर्ष चय को पाती हुई
४	१५	गिलायमाणं	शारीरिक चय से हर्ष चय वाला
४	२०	गणातो	गच्छ से
४	२१	गणावच्छेइयत्तं	गणावच्छेदक पद को
४	२२	गणाओ	गणसे
४	३०	गणं	गण को
४	३०	गरहिज्जा	गुरुसाक्षी से आत्मगर्हा करने वाला
४	३२	गणियाओ	गिनी गई
४	३२	गंगा	गंगानदी
५	१५	गामाणुगामं	एक गांव से दूसरे गांव को
५	१६	गामस्स	गांव के
५	३७	गाढ़ागाढ़ेसु	गाढ़-सर्प विष हैजा आदि आगाढ़ ज्वर-आदि अनेक रोग
५	४०	गायं	शरीर के अवयव को
५	४१	गच्छेज्जा	जावें
६	१	गारत्थियवयणे	गृहस्थ के जैसे वचन को
६	७	गिण्हमाणे	ग्रहण करता हुआ

(घ)

१	६	घोसंसि	पशुपालकों के स्थान में

उद्देश-	सूत्र-	शब्द-	अर्थ-
१	१६	घडिमत्तयं	घड़े के रूप में मिट्टी का पात्र
२	४३	घट्टा	घिसे गए-चिकने किए
५	४०	घएण	घृत से
		(च)	
१	६	चत्तारि	चार
१	१२	चउक्कंसि	जहां चार मार्ग मिले हों
१	१२	चच्चरंसि	चत्वर-चौक
१	१४	चेल चिलमिलियागंसि	वस्त्र की चिलमिलिका
१	१६	चिट्ठित्तए	ठहरने को
१	३६-३७	चरित्तए	करने को
१	४०	च	पुनः, और
२	२०	चेइए	उपहार रूप में पहुँचाए गए
२	२५	चिप्पए	कूटी हुई त्वचाओं से बना
३	३-१५	चम्माइं	चमड़े-मृगचर्म आदि
३	१२	चेलं	वस्त्र को
३	१२	चेलट्ठे	वस्त्र के लिए
३	१३	चउहिं	चारों से
३	२०	चउगाहं	चार गाथाएं
३	२७	चिट्ठइ	ठहरता है
४	२२	चक्किया	कर सकें
६	१६	चक्खूलोलए	आंख से चंचल
		(छ)	
२	६	छेए	छेद में
४	३१	छिन्नावाएसु	जहां लोगों का गमनागमन नहीं है ऐसे स्थ
५	५	छेयं	छेद को
६	१	छ	छ की संख्याएं

उद्देश–	सूत्र–	शब्द–	अर्थ–
६	१६	छव्विहा	छः प्रकार के
६	२०	छेउवट्ठावणिय कप्पट्ठिइ	छेदोपस्थापनीय कल्पस्थिति

(ज)

१	५१	जत्थ	जहां
१	५१	जाव	उसकी अवधि लेकर
२	१	जवानि	जव-धान्यविशेष
२	१	जव जवानि	धान्यभेद
२	१	जे	जो
२	६	जोई	ज्योति-दीपक
२	२४	जंगिए	जाङ्गमिक-त्रस प्राणीके अवयवोंसे बनाहुआ
३	१६	जाणिज्जा	जाने
३	१६	जराजुण्णे	बुढापे से थके
३	२५	जद्दिवसं	जिस दिन में
३	३१	जोयणं	एक योजन
४	३२	जउणा	यमुना
४	३३	जले	जलमें
५	६	जं	जिसको
६	१२	जक्खाइट्ठं	यक्षों से आविष्ट
६	२०	जिण कप्पट्ठिइ	जिनकल्पस्थिति
६	२०	जागरित्तए	जागते रहने को

(झ)

३	१	झाणं	ध्यान
३	१	झाइत्तए	चिन्तन करने को
४	३१	झिंझिए	क्षुधा से पीड़ित हुआ

(ठ)

१	४०	ठवित्ता	रखकर
३	१६	ठाणं	आसन पर

उद्देश-	सूत्र-	शब्द-	अर्थ-
३	१६	ठाइत्तए	बैठने को
४	१६	ठिया	स्थिर रहने वाले
५	१६	ठिच्चा	ठहर कर
५	२०	ठाणाइयाए	आसन विशेष
		(त)	
१	१	ताल पलंबे	ताल वृक्ष का फल
१	१३	तिकंसि	जहां तीन मार्ग मिले हों
१	३५	तम्हा	इसलिए
१	५१	तेणं परं	उससे बाहर
१	५१	ताव	तावत्काल, तावत् अवधि
२	१	तिलानि	तिल
२	२४	तिरीडपट्टे	तिरीट वृक्ष की त्वचा से बना पत्र
३	१२	तन्नीसाए	उनके नेसराय में
३	१३	तप्पढमयाए	वही प्रथमवार हो
३	१३	तिहिं	तीनों
३	१६	तवस्सी	तपस्या करने वाले
३	२५	तद्दिवसं	उस दिन में ही
३	३०	तत्थ	वहां
४	३	तओ	तीन गिने हुए
४	३	तंजहा	जैसे कि
४	३	तेरणंकरेमाणे	चोरी करता हुआ
४	२६	तेसिं	उन आचार्य उपाध्यायों को
४	३०	तवोकम्मं	तप रूप क्रिया को
५	३१	तुयट्टावणं	त्वग्वर्तावन-सुलाना
४	३२	तिक्खुत्तो	तीनबार
४	३२	तिण्णि	” ”
४	३४	तणेसु	तृणों के ऊपर

उद्देश-	सूत्र-	शब्द-	अर्थ-
४	३५	तहप्पगारे	उसके समान
५	३२	तुयट्टित्तए	सोने को
५	३८	तयप्पमाणमित्त	तिल तुष मात्र भी
५	४०	तेल्लेण	तेल से
५	४१	तस्स	उसका, उसको
५	४१	तओपच्छा	उसके पीछे
५	४२	तेणेव	उसे ही
६	२	तट्ठाणपत्तो	हिंसाकारी के समान बना हुआ
६	३	तं	उसको

(थ)

१	५१	थूणा विसयाओ	स्थूण देश से
३	१२	थेरे	स्थविर-वृद्ध
४	१६	थंडिले	बाह्य प्रदेश
४	३३	थले	स्थल में
५	४१	थेराण	गच्छ स्थित रत्नाधिक वृद्ध साधु के
६	२०	थेरकप्पट्ठिइ	स्थविर कल्पस्थिति

(द)

१	६	दोणमुहंसि	द्रोणमुख अर्थात् जल थल दो मार्ग वाला
१	१६	दगतीरंसि	जलाशय के किनारे
१	५१	दक्खिणेणं	दक्षिण दिशा में
१	५१	दंसण	श्रद्धा-सम्यक्त्व
२	७	दुरायं	दो रातें
२	७	दिप्पेज्जा	जलाए
२	८	दहिं	दही
२	१३	दो	दो संख्या
२	१६	दुण्हओ	दोनों की

उद्देश–	सूत्र–	शब्द–	अर्थ–
२	२१	देज्जा	देवें
२	२३	देइ	देता है
४	२	दुट्ठे पंपाचए	दुष्ट पारञ्चिक
४	३	दलमाणे	देते हुए
४	१२	दुड्ढे	दुष्ट–तत्त्व वेत्ताओं पर भी द्वेष रखने वाला
४	१२	दुस्सन्नप्पा	दुःसंज्ञाप्य–दुःख से समझाने योग्य
४	२७	दीवित्ता	प्रकट कहकर
४	३०	दूइज्जित्तए	जाने को
४	३१	दवावित्तए	दिलाने को
४	३१	दुब्बले	दुबले
४	३१	दाउं	देने को
४	३२	दुक्खुत्तो	दोवार
५	१	देवे	देव
५	५	दोच्चं	दूसरे वक्त भी
५	१२	दए	उदक–जल
५	१२	दगरए	जल के कण
५	१२	दगफुसिए	जल से छूए गए
५	१२	दावए	देवे–दिलावे
५	३६	दारुदंडयं	लकड़ी के डंडे
६	२	दासवायं	नौकरों के समान कथन को

(ध)

१	१६	धरित्तए	धारण करने को
१	१६	धम्मजागरियं	धर्म सम्बन्धी जागृति
१	४६	धोया	धुले हुए
४	१५	धूता	लड़की
४	२३	धम्मविणयं	धर्म सम्बन्धी शिक्षा

(न)

उद्देश–	सूत्र–	शब्द–	अर्थ–
१	६	नगरंसि	बड़ा शहर
१	६	निगमंसि	व्यापारी निवास
१	१९	निद्दाइत्ताए	सोने को
१	३५	नत्थि	नहीं है
१	४४	नन्नत्थ	दूसरी जगह नहीं
२	१३	निव्विसेज्जा	प्रवेश करे, उपभोग में ले
२	१३	निक्खंतं	निकलते हुए
२	१६	नीहडं	लेगया हुआ
२	१८	नीहडिया	मकान मालिक का अन्यत्र गया द्रव्य
२	२०	निट्ठिए	बनाया गया
२	२०	निसट्ठे	भेजा गया, दिया गया
३	१	निसीइत्ताए	बैठने को
३	१२	नीसाए	निसराय में
४	२२-२७	निक्खिवित्ता	रखकर, उतारकर
४	३०	निंदिज्जा	आत्म सात्विक निन्दा करे
४	३०	निज्जूहियव्वे	अपने गच्छ से बाहर करने योग्य
४	३१	निसिआवणं	बैठाना
५	१०	निग्गंथस्स	साधु का
५	१०	निग्गंथीए	साध्वी का
५	१५	निक्खमित्ताए	बाहर निकलने को
५	३२	नेसज्जियाए	निषद्या–आसन विशेष से
५	४०	नवणीएण	मक्खन से
६	३	नीहरित्ताए	निकालने को
६	३	नो	नहीं
६	४	नीहरमाणी	निकालती हुई
६	६	निव्वितिगिच्छे	सन्देह रहित

उद्देश–	सूत्र–	शब्द–	अर्थ–
६	९	नावं	नौका पर
६	१५	निग्गंथिं	साध्वी को
६	१९	नियाणकरणे	फलों की आशा करना
६	२०	निव्विसमाणकप्पट्ठिइ	निर्विशमानों की कल्पस्थिति

(प)

१	३	पक्के	पके हुए
१	६	पट्टणंसि	पत्तन–नगर का भेद
१	६	पुड भेयणंसि	कुंकुम आदि के पट्टे खुलने का स्थान
१	७	परिक्खेवंसि	दीवाल आदि के घेराव में
१	१४	पत्थारं	कट–चटाई
१	१९	पयलाइत्तए	निद्रा लेने के लिए
१	२९	पुरिस सागारिए	पुरुष, गृह स्वामी युक्त
१	३१	पडिबद्धाए	द्रव्य और भाव से बंधे हुए
१	३५	परो	दूसरे
१	३९	पडिग्गहेण	पात्रों से
१	३९	पायपुंछणेण	पात्र साफ करने के वस्त्र से
१	४१	पवित्तिणिपायमूले	प्रवर्त्तिनी के चरण पर
१	४४	पुव्व पडिलेहिएण	पहले प्रतिलेखन किए हुए
१	४६	परिभुत्ता	परिभोग में लाई हुई
१	५०	पविसित्तए	प्रवेश करने को
१	५१	पुरत्थिमेणं	पूर्व दिशा में
१	५१	पच्चत्थिमेणं	पश्चिम दिशा में
२	२	पुंजकडाणि	ढेर किए हुए
२	२	पिहियाणि	ढके हुए
२	३	पल्लाउत्ताणि	ऊंचे करके रक्खे हों
२	४	परं	उससे आगे
२	६	पडिलेहमाणे	प्रतिलेखन करता हुआ

उद्देश-	सूत्र-	शब्द-	अर्थ-
२	७	पईवे	दीपक
२	८	पूवे	मालपूआ
२	८	पिंडए	लड्डू के समान बनाए
२	२१	पूया	पूज्य
२	२३	परिजणो	परिजन-कुटुम्बी
२	२३	पडिगाहित्तए	लेने को
२	२४	पंचमे	पांचवां
२	२४	पोत्तए	रूई के बने हुए
३	१	परिट्ठवित्तए	परठने को
३	१	पासवणं	लघुनीति
३	४	पाडिहारिए	पीछे देने को
३	१०	परिहरित्तए	त्यागने को
३	१२	पिंडवाय पडियाए	आहार ग्रहण की इच्छा से
३	१२	पवित्ती	प्रवर्त्तक
३	१२	पुरओ	आगे
३	१२	पवित्तिणीसाए	प्रवर्त्तिनी के नेसराय से
३	१४	पुव्वोवट्ठिया	पहले उपस्थित होने वाली
३	१५	पढ़मसमोसरणुद्देसपत्ताइं	पहले वर्षावासके देशकाल विभागसे मिलेहुए
३	१६	पवडिज्ज	गिरकर
३	२०	पवेइत्तए	अच्छी तरह समझाने को
३	२१	पंच	पांच संख्या में
३	२१	पूयाभत्ते	पूज्य के लिए किया गया आहार
३	२१	पाहुडियाए	उन्हीं के लिए भेजे गए
३	२४	पडिदायव्वे	पीछे देना चाहिए
३	२४	परिहारं	धारणा-परिभोगरूप
३	२५	पुव्वाणुण्णवणा	प्रथम ली हुई आज्ञा
३	२६	परिहरणारिहे	साधुओं के उपभोगने योग्य

उद्देश-	सूत्र-	शब्द-	अर्थ-
३	२६	परियावन्नए	भूले हुए या छूट गए
३	३०	पडिएत्तए	लौटकर आने को
३	३०	पेहाए	देखकर
४	१	पडिसेवमाणे	प्रतिसेवना करता हुआ
४	३	पमत्तेपारंचिए	प्रमादी पारञ्चिक
४	४	पंडए	नपुंसक
४	४	पव्वावित्तए	दीक्षित करना
४	११	पडिबद्धे	घृत आदि विकृति में लोलुपी
४	११	पाहुडे	क्रोध
४	१२	पन्नत्ता	कहे गए हैं
४	१४	पलिसएज्जा	आलिंगन करे
४	१४	पिता	बाप
४	१४	पुत्तो	पुत्र
४	१६	पडिलेहित्ता	प्रतिलेखना करके
४	१६	पमज्जित्ता	प्रमार्जन करके
४	१६	पढमाए	पहली
४	१६	पोरिसीए	पोरसी में
४	१६	पच्छिमं	अन्तिम
४	१६	पानं	जल (अचित्त)
४	१७	परिहारट्ठाणं	परिहार स्थान (प्रायश्चित्त विशेष)
४	१७-१८	परिट्ठवियव्वे	परठना चाहिए
४	१८	पाण भोयणे	आहार पानी
४	१८	पडिग्गाहिए	लिए गए
४	२६	परिट्ठवित्ता	परठकर
४	३०	पट्ठविए	दिया गया हो
४	३०	पट्ठविज्जमाणे	दिया जाता हुआ भी
४	३०	पासेज्जा	देखे

उद्देश-	सूत्र-	शब्द-	अर्थ-
४	३०	पायच्छित्तं	प्रायश्चित्त को
४	३०	पडिक्कमिज्जा	पाप स्थान से पीछे लौटे
४	३०	पाणाए	जल के लिए
४	३१	पिंडवायं	आहार को
४	३१	पिवासिए	प्यासा
४	३१	परिहार कप्पट्ठियस्स	परिकल्प में स्थित साधु को
४	३१	पंथेसु	मार्गों में
४	३२	पुण	फिर
४	३३	पायं	पैर को
४	३४	पलालेसु	पुआलों में
४	३४	पणग	पनक-पांच वर्णवाला वनस्पतिकाय जीव
५	१०	पच्चोगिलमाणे	पीछे गिलते हुए
५	११	पएसे	प्रदेश-क्षेत्र में
५	११	पिवेज्ज	पीवे-पान करे
५	१३	पसुजाइए	पशुजातिवाला
५	१३	पक्खिजाइए	पक्षीजातिवाला
५	१३	परामुसेज्जा	स्पर्श करे
५	१६	पगिज्झिय पगिज्झिय	ऊपर करके ऊपर करके
५	१६	पलंबिय बाहियाए	हाथों को फैलाने वाली
५	२१	पडिमट्ठाइयाए	पडिमा आसन विशेष से बैठने वाली
५	३३	पीढंसि	पीठ के ऊपर
५	३५	पाद केसरिका	पादकेसरिका-आसन विशेष
५	३८	पारियासियस्स	बासी-पर्युपित
५	४१	पच्छा	उसके बाद
५	४२	पुलागभत्तए	पुलाकभक्त
५	४२	पज्जोसविज्जाए	निर्वाह करे
६	१	पडिगाहिज्जा	ग्रहण करे

उद्देश–	सूत्र–	शब्द–	अर्थ–
६	२	पाणाइवाय	प्राणातिपात-हिंसा
६	२	पत्थरा	प्रायश्चित्त रचना विशेष
६	३	पायंसि	पैर में
६	३	परियावज्जेज्जा	आकर गिरे
६	४	पुरिस रूवं	पुरुष के रूप को
६	५	पंचराइं दियं	पांच दिन रात
६	६	पाणे	कोई प्राणी
६	७	पव्वयंसि	पहाड़ पर
६	७	पक्खलमाणि	फिसलती हुई
६	७	पवडमाणि	पड़ती हुई
६	८	पणगंसि	बारीक कीचड़ (जलयुक्त)
६	८	पंकंसि	गाढ़े कीचड़ में
६	१९	पलिमंथू	व्याघात करने वाले छ दोष
६	१९	पसत्था	प्रशस्त–उत्तम है
		(फ)	
२	८	फाणिए	फेणी–फटे दूध के बने
४	२६	फासुए	प्रासुक–निर्जीव
५	३३	फलगंसि	फलक (तख्ता)
६	१	फरुसवयणं	कठोर–वचन
		(ब)	
१	६	बाहिं	बाहर
१	६	बाहिंभिक्खायरिया	बाहर ही गोचरी करनी
१	७	बाहिरियंसि	बाहर वाले उपाश्रय में
१	४०	बहिया	बाहर
२	१	बीहीणि	ब्रीहि-शाल्यादि धान्य
४	२९	बहु फासुए	सर्वथा निर्जीव

उद्देश-	सूत्र-	शब्द-	अर्थ-
४	३०	बहुस्सुए	बहुसूत्री या बहुश्रुत
४	३०	बब्भागमं	अनेक आगमों के जानकार
५	११	बीयाणि	बीज-धान्य आदि
५	१६	बाहाया:	फैलाए हाथ वाली
५	४१	बहिया	बाहर के नगर में
६	४	बीए	बीज

(भ)

१	२	भिन्ने	कटे हुए
१	७	भिक्खायरिया	गोचरी करनी
१	३५	भंते ?	भगवन् ?
१	३५	भिक्खू	साधु
२	१०	भित्तिकडाइं	भीत बनाए गए
२	२४	भंगिए	अलसी से बने हुए वस्त्र
३	६	भिन्नाइं	फाड़े गए
४	१-१६	भुंजमाणे	भोजन करते हुए
४	१४	भाया	भाई
४	१५	भगिणी	बहिन
४	१७	भुंजिज्जा	भोजन करे
४	३०	भत्ताए	आहार के लिए
५	१२	भोयणजाए	आहार की चीज
५	१२	भोत्तव्वे	आहार करना चाहिए
५	३८	भूयप्पमाणमित्तमवि	चुटकी भर भी भूति-भस्म,
५	१२	भत्तट्ठेणं	उसी पुलाग भक्त से
६	१७	भत्तपाणपडियाइक्खियं	आहार पानी त्यागने वाली साध्वी को
६	१६	भुज्जो भुज्जो	फिर फिर कर

(म)

१	६	मडंबंसि	ढाई योजन के भीतर ग्राम रहित स्थान

उद्देश-	सूत्र-	शब्द-	अर्थ-
१	६	मासं	एक मास तक
१	१३	मज्झंमज्झेणं	बीच बीच से
१	४६	मट्ठा	चिकने किए गए
१	५१	मगहाओ	मगध देश से
२	१	मुग्गाणि	मूंग
२	१	मासाणि	उड़द
२	२	मुद्दियाणि	रेखांकित-चिह्नांकित
२	३	मंचा उत्ताणि	मंच पर रक्खे गए
२	३	माला उत्ताणि	माले पर रक्खे हुए
२	२५	मुंज चिप्पए	मुंज की बनी पूंजनी
३	१६	मुच्छिज्ज	मूर्च्छित होवे
४	१	मेहुणं	स्त्री पुरुष का संयोग
४	५	मुंडावित्तए	लोच करवाने को
४	१२	मूढे	जड़ बुद्धि वाला
४	१५	माया	माता
४	३२	मही	नदी विशेष का नाम
४	३२	महण्णवाओ	समुद्रसी बड़ी
४	३२	महाणदीओ	बड़ी नदियां
४	३२	मुक्कमउडेसे	मुक्त मकुट
५	६	मुहे	मुख में
५	१४	मेहुणपडिसेवणपत्ता	मैथुन सेवना को प्राप्त करती हुई
५	३७	मोयं	लघुनीत
५	४०	मक्खित्तए	बहुत चिकना बनाने को
६	२	मुसावायस्स	असत्य वचन
६	१६	मुत्तिमग्गस्स	मुक्ति मार्ग के
६	१९	मोहरिए	मौखरिक-बहुत बोलने वाला

(र)

उद्देश-	सूत्र-	शब्द-	अर्थ-
१	६	रायहाणिंसि	राजा के निवास युक्त नगर
१	१२	रत्थामुखंसि	गली के द्वार पर
१	३८	रज्जंसि	राज्य में
१	४३	राओ	रात में
१	४६	रत्ता	रंगी गई लाल की गई
२	२	रासिकडाणि	इकट्ठे किए गए
२	१२	रुक्खमूलंसि	वृक्ष के नीचे
२	२४	रयहरणाइं	रजोहरण-पूंजनी
३	३०	रयणिं	रात में
४	१	राई भोयणं	रात में खाना
५	३७	रोगायंकेसु	हैजा आदि रोग, सर्प विष आदि आतंकोंमें
६	४	रए	रजकण

(ल)

२	७	लोयए	लोचक-दही का बना पदार्थ
२	६	लंछियाणि	चिह्न विशेष से युक्त
२	१०	लित्ताणि	लिपे गए
३	२४	लभेज्जा	लाभ करे-पावे
५	११	लाइया	हाथ से लाकर
५	२६	लगंडसाइयाए	लगंड-आसन विशेष से सोने व
५	३४	लाउयं	अलाबुक-तुंबीपात्र

(व)

१	२	विहिभिन्ने	विधि पूर्वक काटे गए
१	३	वा	अनेकार्थक-अथवा
१	६	वत्थए	वसने को
१	६	वसमाणाणं	वसते हुए को

उद्देश–	सूत्र–	शब्द–	अर्थ–
१	३५	वंदेज्जा	वन्दना करे
१	३६	वासावासासु	वर्षावास याने चातुर्मास में
१	३८	वीतिक्कममाणे	राजा व तीर्थंकर की आज्ञा
१	३८	वेरज्ज	परस्पर विरोध वाला राज्य
१	३८	विरुद्ध रज्जंसि	किसी कारण से लड़ने वाले राज्य में
१	३९	वत्थेण	वस्त्र से
२	४	वसइ	वसता है
२	४	वगडाए	उपाश्रय के भीतरी भाग
२	८	विक्खित्ताणि	बिखरे हों
२	८	विइ किण्णाणि	फैले हुए
२	८	विप्पइन्नाणि	विशेष रीति से फैले
२	१०	विलित्ताणि	विशेष रीति से लिपे हुए
२	१२	वंसीमूलंसि	वंशी-वृक्ष विशेष के नीचे
२	१२	वियडगिहंसि	खुले द्वार वाले घर में
२	१९	विभत्ताओ	पृथक् किए हुए
२	१९	वोच्छिन्नाओ	बिना परिमाण किए
२	१९	वोगडाओ	कहे गए
२	२४	वत्थाइ	वस्त्र
२	२५	वच्चाचिप्पए	वच्चक की त्वचा से बना हुआ रजोहरण
३	२१	विभावित्तए	समझाने को
३	२४	विप्पणसिज्जा	खो जाय या गुम हो जाय
३	२५	विप्पजहंति	त्यागते हैं
३	२८	वत्थुसु	वस्तुओं में
४	४	वाईए	वातिक-तुच्छ प्रकृति
४	१०	विगई पडिबद्धे	घृत आदि में लोलुपी
४	११	विणीए	विनीत
४	११	वाइत्तए	वाचना देने के लिए

उद्देश–	सूत्र–	शब्द–	अर्थ–
४	१२	वुग्गाहिए	उलटा समझाया गया
४	२३	विहरित्ताए	विहार करने को
४	२६	वियरेज्जा	देवें
४	२८	वितरंति	देते हैं
४	२९	वियाले	विकाल में-प्रतिकूल काल में
४	२९	वीसुंभिज्जा	शरीर त्याग करे
४	२९	वेयावच्चकरे	साधु सेवा करने वाले
४	३०	विउट्टेज्जा	उस अपराध स्थान से पीछे हटे
४	३०	विसोहेज्जा	विशुद्ध करे
४	३१	वेयावडियं	वैयावच-सेवा कार्य को
४	३१	विगिंचणं	पृथक् करना
४	३१	विसोहनं	विशुद्ध करना
४	३२	वंजियाओ	प्रकट की गई
५	१	विउव्वित्ता	विकुर्वणा करके
५	६	विगिंचिमाणे	बाहर डालते हुए
५	६	वितिगिंछा	विचिकित्सा–सन्देह
५	११	विगिंचित्ताए	पृथक् करने को
५	११	विसोहित्ताए	शुद्ध करने को
५	११	विसोहिया	शुद्ध किए गए
५	१३	विसोहमाणीए	शुद्ध करती हुई
५	१३	विगिंचमाणीए	बाहर डालती हुई
५	१५	वियार भूमिं	विहारभूमि–स्वाध्याय भूमि
५	१५	विचारभूमिं	संज्ञा भूमि
५	१८	वोसट्ट काइयाए	कायोत्सर्ग–देहभान भुलाती हुई
५	२४	वीरासणियाए	वीरासन से बैठने वाली
५	३८	विंदुप्पमाणमित्तमवि	बूंद मात्र भी
५	३९	विलिंपित्तए	विलेपन करने को

उद्देश–	सूत्र–	शब्द–	अर्थ–
५	४०	वसाए	वसा-चिकनी चीज
५	४१	ववहारे	व्यवहार
५	४१	वेयावडियाए	व्यावच्च के लिए
६	१	वइत्तए	बोलने को
६	१	विउसवियं	शान्त होने वाले को
६	२	वयमाणे	बोलते हुए
६	२	वायंवयमाणे	मृषा, हिंसा आदि को बोलता हुआ
६	७	विसमंसि	विषय (ऊंचनीच)

(स)

१	४	समाणीं	होती हुई
१	६	संनिवेसंसि	यात्रा का ठहराव स्थान
१	६	संवाहंसि	साधन रखने का स्थान
१	७	सपरिक्खेवंसि	परिक्षेप-आवरण से युक्त
१	६	सबाहिरियंसि	बाहरी भूमि से युक्त
१	१३	सिंघाडगंसि	शृंगाटक में
१	१६	सिंघाणं	नाक का मल
१	१६	साइमं	स्वादिम
१	१६	सज्झायं	स्वाध्याय को
१	२०	सचित्त कम्मे	सचित्र उपाश्रय में
१	२३	सागारियं निस्साए	गृह स्वामी के नेसराय में
१	२४	सागारिय उवस्सए	गृह स्वामी के द्रव्य सहित
१	३१	सेज्जाए	उपाश्रय
१	३५	संवसेज्जा	एक साथ रहे
१	३५	संभुज्जेज्जा	एक साथ आहार करे
१	३५	सामण्णं	श्रामण्य-श्रमण धर्म
१	३८	सज्जं	सद्यः-तत्काल

उद्देश–	सूत्र–	शब्द–	अर्थ–
४	१२	वुग्गाहिए	उलटा समझाया गया
४	२३	विहरित्ताए	विहार करने को
४	२६	वियरेज्जा	देवें
४	२८	वितरंति	देते हैं
४	२९	वियाले	विकाल में–प्रतिकूल काल में
४	२९	वीसुंभिज्जा	शरीर त्याग करे
४	२९	वेयावच्चकरे	साधु सेवा करने वाले
४	३०	विउट्टेज्जा	उस अपराध स्थान से पीछे हटे
४	३०	विसोहेज्जा	विशुद्ध करे
४	३१	वेयावडियं	व्यावच–सेवा कार्य को
४	३१	विगंचणं	पृथक् करना
४	३१	विसोहणं	विशुद्ध करना
४	३२	वंजियाओ	प्रकट की गई
५	१	विउव्वित्ता	विकुर्वणा करके
५	६	विगिंचिमाणे	बाहर डालते हुए
५	६	वितिगिंछा	विचिकित्सा–सन्देह
५	११	विगिंचित्ताए	पृथक् करने को
५	११	विसोहित्ताए	शुद्ध करने को
५	११	विसोहिया	शुद्ध किए गए
५	१३	विसोहमाणीए	शुद्ध करती हुई
५	१३	विगिंचमाणीए	बाहर डालती हुई
५	१५	वियार भूमिं	विहारभूमि–स्वाध्याय भूमि
५	१५	विचारभूमिं	संज्ञा भूमि
५	१८	वोसट्ठ काइयाए	कायोत्सर्ग–देहभान भुलाती हुई
५	२४	वीरासणियाए	वीरासन से बैठने वाली
५	३८	विंदुप्पमाणमित्तमवि	बूंद मात्र भी
५	३६	विलिंपित्तए	विलेपन करने को

उद्देश-	सूत्र-	शब्द-	अर्थ-
५	४०	वसाए	वसा-चिकनी चीज
५	४१	ववहारे	व्यवहार
५	४१	वेयावडियाए	व्यावच के लिए
६	१	वइत्तए	बोलने को
६	१	विउसवियं	शान्त होने वाले को
६	२	वयमाणे	बोलते हुए
६	२	वायंवयमाणे	मृषा, हिंसा आदि को बोलता हुआ
६	७	विसमंसि	विषम (ऊंचनीच)

(स)

१	४	समाणीं	होतीं हुई
१	६	संनिवेसंसि	यात्रा का ठहराव स्थान
१	६	संवाहंसि	साधन रखने का स्थान
१	७	सपरिक्खेवंसि	परिक्षेप-आवरण से युक्त
१	६	सबाहिरियंसि	बाहरी भूमि से युक्त
१	१३	सिंघाडगंसि	शृंगाटक में
१	१६	सिंघाणं	नाक का मल
१	१६	साइमं	स्वादिम
१	१६	सज्झायं	स्वाध्याय को
१	२०	सचित्त कम्मे	सचित्र उपाश्रय में
१	२३	सागारियं निस्साए	गृह स्वामी के नेसराय में
१	२४	सागारिय उवस्सए	गृह स्वामी के द्रव्य सहित
१	३१	सेज्जाए	उपाश्रय
२	३५	संवसेज्जा	एक साथ रहे
१	३५	संभुज्जेज्जा	एक साथ आहार करे
१	३५	सामण्णं	श्रामण्य-श्रमण धर्म
१	३८	सज्जं	सद्यः-तत्काल

उद्देश-	सूत्र-	शब्द-	अर्थ-
१	३६	सागारकडं	गृह स्वामी का किया हुआ
१	४०-४२	समार्णं	होते हुए-निकलते हुए
१	४६	सावि	वह भी
१	४६	संपधूमिया	खुशबूदार बनाया गया
१	४८	संखडि पडियाए	संखडी की इच्छा से
२	१	सालीणि	धान-चावल वाला
२	४	संतरा	अपने किए हुए दो तीन रात ठहरना रूप
२	४	सुरावियडकुंभे	सुरा से विकृत कलश
२	४	सोवीरय वियडकुंभे	विकृत जल के कुंभ
२	५	सिओदग वियडकुंभे	शीत जल के कुंभ
२	७	सव्वराइए	रात भर
२	८	सप्पि	घृत
२	८	सक्कुली	मालपूआ
२	८	सिहरिणी	श्रीखण्ड (खाद्य विशेष)
२	१५	संसट्ठं	दूसरे भोजन से सम्मिलित
२	१६	सागारिय पिंडं	गृह स्वामी का भोजन
२	१६	साइज्जइ	आस्वाद लेवे
२	१७	सागारिएण	गृहस्वामी ने
२	१७	से	तस्य-उसका
२	२४	साणए	ण से बने हुए
३	३	सलोमाइं	म के साथ
३	४	सेविय	र वह भी
३	१२	सामाणा	समान हो
३	१३	संपव्वमाणस्सं	सम्यक् प्रव्रज्या लेता हुआ
३	१३-२३	संपव्वइत्तए	दीक्षा लेने को, विहार करने को
३	१५	समोसरणुद्देसपत्ताइं	प्रथम वर्षावास के क्षेत्रादि रूप उद्देश को पाने वाली

उद्देश–	सूत्र–	शब्द–	अर्थ–
३	२१	सभावणाइं	भावनाओं के साथ
३	२५	समणा	साधु
३	२५	सिज्जासंथारयं	उपाश्रय संस्तारक
३	२६	सच्चेव	होने पर ही
३	३०	सेण्णं	सैन्य-सेना
३	३०	सन्निविट्ठं	उतरा है
३	३१	संन्निवेसंसि	हाट अथवा पेठ में
३	३१	सव्वओ	चारों ओर से
३	३१	समंता	अच्छी तरह
३	३१	सकोसं	कोश कोशभर
४	३	साहम्मियाणं	साधर्मिकों के
४	५	सिक्खावित्तए	पढ़ाने के लिए
४	५	संभुजित्ताए	एक मण्डल में भोजन कराने को
४	५	संवासित्ताए	साथ रखने के लिए
४	१३	सुसण्णप्पा	सुख से समझाने योग्य
४	१८	सेहतराए	छोटे साधु
४	२३	संभोगवडियाए	एक साथ भोजनादि के निमित्त से
४	२६	सागारिय संतिए	गृहस्वामी की मुख्यता में
४	२६	सरीरगं	शरीर को
४	३०	संकमित्ताए	एक गण से दूसरे गण में संक्रमण करनेको
४	३०	सुएण	सूत्र से-शास्त्रानुसार
४	३२	सरऊ	सरयू नामकी नदी
४	३३	संतरित्ताए	पार उतरने के लिए
५	६	सूरिए	सूर्य के
५	७	समावन्ने	पाने पर
५	१०	सभोयणे	भोजन के साथ
५	१४	सोयंसि	गुह्य अङ्ग में
५	१६	सूराभि मुहीए	सूर्य के सामने में

उद्देश-	सूत्र-	शब्द-	अर्थ-
५	१६	समतलपाइयाए	समानता से दोनों पैर रखकर
५	१६	संघाडि पडिबद्धाए	अपने गच्छ में बंधी हुई
५	३१	सावस्सगंसि	पीठ टेकने के आलम्बन के साथ
५	३३	सविसाणंसि	सींग के समान अवयव युक्त
५	३४	सवेंटगं	डंट लगे (अलावू)
५	४१	सुच्चा	सुनकर
५	४२	संथरिज्जा	निर्वाह कर सके
५	४२	सिया	कदाचित् (यदि)
६	२	सम्मं	सम्यग्–अच्छी तरह
६	३	संचाएज्जा	समर्थ होवे
६	३	सक्करे	छोटी कंकड़ी
६	८	सेयंसि	जलके साथ कीचड़ में
६	१५	साहिगरणं	किसी गृहस्थ से विरोध करने वाली साध्वी
६	१६	सपायच्छित्तां	प्रायश्चित्त पायी हुई साध्वी
६	२०	सामाइयसंजय कप्पट्ठिइ–	सामायिक संयत कल्पस्थिति

(ह)

१	६	हेमंत गिम्हासु	हेमन्त ग्रीष्म में
१	४६	हरिया हडियाए	हृताहृतिका को
२	५	हुरत्था	बाहर–दूसरे उपाश्रय के
४	१	हत्थकम्मं	खराब चेष्टा
४	३	हत्थादालं	परताड़न या स्वयं मारन
४	३	हव्वं	साथ या शीघ्र
५	१६	हुंतए	होने को
६	१	हीलिय वयणे	निन्दित वचन
६	३	हीरे	कील–छोटी टकड़ी

॥ प्रथमं परिशिष्टं समाप्तम्॥

द्वितीयं परिशिष्टम्

पाठभेदः

उद्देश–	सूत्र–	आगम मन्दिर प्रति	संशोधित प्रति
१	६	संनिवेसंसि	(सं०) निवेससि (आ० टी०)
,,	१४	ओहाडियचिलिमिलिया,	ओहाडिय (चेल) चिलिमिलिया
,,	१८	माहरेत्तए	माहारित्तए
,,	२२	सागारियं	·· य
,,	२६	सागारिए	·· य
,,	३६	चारए	(चरित्तए)
,,	३८	करेत्तए	करित्तए
,,	,,	दुहओ–	वि
,,	४३	नन्नत्थ	नऽन्नत्थ
,,	४६	घट्टा	घट्टा
,,	४८	विहारभूमिं वा वियार–भूमिं वा	वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा
,,	५०	थुणाविसयाओ	थूणाविसयाओ
२	१	ओकिण्णाणि	उक्खित्ताणि
३	,,	विक्खिण्णाणि	विक्खित्ताणि
४	४	वसेज्जा	वसइ
,,	२०	पडिग्गहिता	पडिग्गहिया
,,	२५	देइ	देज्जा
२	२६	कप्पइ०	०पडिग्गाहेत्तए
,,	३०	वद्धाचिप्पए	बच्चाचिप्पए
,,	,,	मुञ्जचिप्पिएवि	मुञ्जचिप्पए

उद्देश-	सूत्र-	आ० म०	संशोधित
,,	,,	उद्देसओ	उद्देसओ
३	१	आसइत्ताएवा	चिट्ठित्तएवा
,,	,,	करेत्तए	×
,,	२	निग्गन्थाणं उव०	निग्गंथ उव०
,,	,,	आसइत्तए	चिट्ठित्ताएवा
,,	४	परिभूते	परिभुत्ते
,,	,,	अपरिभूत्ते	अपरिभुत्ते
,,	११	चेलाइं	चेलं
,,	१२	नि० य	निग्गंथस्स
,,	१६	सेज्जासंथारयं	सेज्जासंथारए
,,	१८	आसइत्तए	×
,,	,,	करेत्तए	×
,,	,,	जज्जरिए	×
,,	२२	अहिगरणं	अविकरणं
,,	२४	च णं	×
,,	२६	वीइक्कममाणे	विअइक्कममाणे
४	३	तेन्नं	तेणं
,,	,,	परधम्मियाणं	अन्नधम्मियाणं
,,	,,	हत्थायालं	हत्थादालं
,,	८	सुसन्नपा	सुसण्णपा
,,	११	एगन्तमन्ते	एगन्ते
,,	,,	चउत्थं	×
,,	,,	पएसे	×
,,	१२	पएसे	थंडिल्ले
,,	१५	अणापुच्छित्ताणं	अणापुच्छित्ता
,,	२४	वेयावच्चकरा	वेयावच्चकरे
	,,	एगंतमंते	एगंते

उद्देश-	सूत्र-	आ० म०	संशोधित
,,	,,	सागार कडं	सागारिकडं
,,	२५	भिक्खूतो से कप्पइ	×
,,	,,	गामाणुगामं	गामाणुगामं वा
,,	,,	गणाओ	गणाओ वा
४	२५	आइयइ	आइयइ से
,,	२६	उवज्झायाणं	उवज्झाएणं
,,	,,	तवस्सी	×
,,	,,	झिज्झिमाए	झिंझिए
,,	,,	पिवासिए	पिवासिए, तवस्सी
,,	२८	मट्टियमक्कड	मट्टियमक्कडग
,,	,,	अहेसेवण मायाए	अहेसवण मायाए
,,	३०	उप्पिसेवण मायाए	उप्पिसवण मायाए
५	५	राइंदियाइं	राइंदियं
,,	,,	परिणिव्वविय	परिणिव्वाविय
,,	६	निव्विइगिच्छासमावण्णेणं	निव्विइगिच्छे
,,	११	से पाणं वा बीए	पाणाणि वा बीयाणि वा
,,	,,	तओ	तं
,,	,,	आलोइय	लाइया
,,	,,	विसोहिय	विसोहिया
,,	१२	परिभोत्तव्वे	भोत्तव्वे
,,	,,	नोउसिणे	×
,,	१३	चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं-मासियं	
,,	१६	भत्ताए वा पाणाय वा	पिंडवाय पडियाए
,,	१६	सूराभि मुहाए	सूराभिमुहीए
,,	२२	नेसिज्जियाए	नेसज्जियाए
,,	३८	चिट्ठित्तएवा निसीइत्तएवा	×

उद्देश-	सूत्र-	आ० म०	संशोधित
,,	४८	आइत्तए वा	आइयत्तए वा
,,	३६	आलिम्पित्तए वा	आलिंपित्तए वा
,,	,,	आगाढानागाढेहि	गाढेहिं
,,	४०	गायाइं	गायं
,,	४०	मक्खेत्तए वा	मक्खित्तए वा
,,	४०	आगाढा नागाढेहिं	गाढागाढेहिं
,,	५२	णं	×
६	१	उद्दीरेत्तए	उद्दीरित्तए
,,	३	खाणुए	खाणू
,,	,,	तं	तं च
,,	७	गेण्हमाणे	गिण्हमाणे
,,	१६	तिन्तिणिए	तिन्तिणीए
,,	१६	मोक्खमग्गस्स	मुत्तिमग्गस्स
,,	१६	छव्विहा	छव्विहो

॥ द्वितीयं परिशिष्टं समाप्तम् ॥

तृतीयं परिशिष्टम्

प्रतिपरिचयः

१--श्री वर्द्धमान जैन आगममन्दिर, पालीताणा से प्रकाशित एवं तपोगच्छीय श्री सागरानन्द सूरि द्वारा संशोधित प्रति। इसमें प्राचीन प्रतियों से पाठ संशोधित है, किन्तु अधिकांश जगह ० बिंदु देकर पाठ संकोच किया गया है एवं कई जगह पाठ छुट भी गए हैं। कहीं पदों के क्रम में परिवर्तन हो गया है। बीच २ में पाठान्तर व अन्य प्रतियों में प्राप्त नहीं होने पर भी अपनी ओर से संशोधित पाठों को ( ) कोष्ठक में दिए हैं। सूत्राङ्कों के साथ स्थान २ पर निर्युक्ति व भाष्य गाथाओं के अङ्क भी दिए गए हैं। पत्र सं० ८-६ है। प्रति लम्बेसाइज पत्राकार में मुद्रित है।

२--निर्युक्ति लघुभाष्य वृत्युपेत बृहत्कल्पसूत्र--यह श्री आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर से प्रकाशित एवं मुनि श्री चतुरविजयजी पुण्यविजयजी द्वारा संपादित है। प्रस्तुत सूत्र के सम्पादन में मुनि श्री ने विविध प्रतियों से-जिनमें ताड़पत्रीय प्रति भी सम्मिलित है-श्रम पूर्वक मूलपाठ एवं टीका का संशोधन किया है। सूत्र ६ भागों में पूर्ण हुआ है-जिनमें से ५ अभी उपलब्ध हैं। पाठ प्रायः शुद्ध है। संशोधन में इस प्रति को मुख्यता से प्रामाणिक माना गया है।

३--हस्तलिखित प्रति--यह प्रति स्वर्गीय ढढ्ढा सौभागमलजी के ज्ञानभंडार की सावचूरि (सटीक) प्रति है जो कि वर्तमान में पूज्य श्री हस्तिमल्लजी महाराज साहेब की निश्राय में है। इसके पाठ आत्मानन्द सभा, भावनगर से मुद्रित सभाष्य-बृहत्कल्पसूत्र से अधिकांश मिलते हैं। प्रति त्रिपाठी होने से बीच में मूल और ऊपर नीचे टीका दी गई है। लिपि साधारणतया सुवाच्य है। संशोधन में इस प्रति का संकेत 'ह०' प्रति रक्खा है। पत्र सं० १८ है। प्रति पृष्ठ में मूल और टीका को मिलाकर २३ से २५ पंक्तियों के लगभग अनुपात हैं। अधिकांश पाठ शुद्ध हैं। यह

प्रति १८ वीं शताब्दी के एक मुनिराज की लिखी हुई है। इस प्रति के अंत में प्रायश्चित का यंत्र और भाषा में प्रायश्चित के विधान चूर्णि पर से लिखे हुए हैं। मूलपाठ के अंत में प्रशस्ति-लेख निम्न प्रकार है:-

"संवत् १७५१ वर्षे वैशाख मासे शुक्ल पक्षे ६ दिने पीपाड़ ग्राममध्ये ऋष ५ जीवराजजी पूज्य तत् शिष्येण ऋष सुरत्राणेन लिपिकृतं स्वआत्मार्थम् पठनार्थं। शुभं भवतु। कल्याणमस्तु। श्री० ७ श्री ॥

॥ तृतीयं परिशिष्टं समाप्तम् ॥

चतुर्थं परिशिष्टम्

बृहत्कल्प सूत्र वृत्त्यन्तर्गतानि विशेष नामानि

विशेषनाम	कस्य	निर्देश स्थलम्	
		उ०	सू०
ताल	फलस्य	१	१
पलंब	फलस्य	१	१
डिड्डियादि	फलस्य	१	१–टीका
सल्लकी	फलस्य	१	१–टी०
गाम	जनपदस्य	१	६
आनन्दपुर	नगरस्य	१	६–टी०
भृगुकच्छ	नगरस्य	१	६–टी०
ताम्रलिप्ती	नगर्याः	१	६–टी०
आवणगिह	स्थानविशेषस्य	१	१२
चिलमिलिका	वस्त्र विशेषस्य	१	१४
द्रोण	कलाचार्यस्य	१	४४–टी०
भीष्म	,, ,,	१	४४–टी०
अंग	देश विशेषस्य	१	५१
मगह	,, ,,	१	५१
कोसंबी	,, ,,	१	५१
थूणा	,, ,,	१	५१
कुणाल	,, ,,	१	५१
साली	धान्य विशेषस्य	२	१
वीही	,, ,,	२	१

विशेपनाम	कस्य	निर्देश स्थलम्	
गोधूम	,, ,,	२	१
जव	,, ,,	२	१
जवजव	,, ,,	२	१
मुद्ग	,, ,,	२	१
माष	,, ,,	२	१
तिल	,, ,,	२	१
कुलत्थ	,, ,,	२	१
लोयए	वस्त्र विशेषस्य	२	२४
जंगिए	,, ,,	२	२४
भंगिए	,, ,,	२	२४
सानए	,, ,,	२	२४
पोत्तए	,, ,,	२	२४
मुंजचिप्पए	,, ,,	२	२४
उष्ट्र	पशु विशेषस्य	२	२५
आयरिय	साधोर्विशिष्टपदस्य	३	१२
उवज्झाय	,, ,,	३	१२
पवित्ती	,, ,,	३	१२
थेरे	,, ,,	३	१२
गणी	,, ,,	३	१२
गणहरे	,, ,,	३	१२
गणावच्छेइए	,, ,,	३	१२
पारंचिय	प्रायश्चित्त भेदस्य	४	२
अणवट्ठप्प	,, ,,	४	३
गंगा	नद्याः	४	३२
जउणा	,, ,,	४	३२
सरऊ	,, ,,	४	३२
कोसिया	,, ,,	४	३२

विशेषनाम	कस्य	निर्देश	स्थलम्
कुणाल	देशस्य	४	३३
मही	नद्याः	४	३२
एरावई	नद्याः	४	३३
नैषद्यिका	आसनविशेषस्य	५	२२-टी०
उत्कटिका	,, ,,	५	२६
वीरासनिका	,, ,,	५	२६
दण्डासनिका	,, ,,	५	२९
आम्रकुब्जिका	,, ,,	५	२६
तिल्ल	तैलस्य	५	४०
घय	खाद्यविशेषस्य	५	४०
नवनीय	,, ,,	५	४०
वसा	अभ्यङ्गविशेषस्य	५	४०
पाणाइवाय	हिंसायाः	६	२
मुसावाय	मृषावादस्य	६	२
अदिन्नादान	चौर्यग्रहणस्य	६	२

॥ चतुर्थं परिशिष्टं समाप्तम् ॥

पंचमं परिशिष्टम्

टिप्पणम्

१–वंशी मूलं–

यो गृहाद् बहिर्द्वाराग्रवर्ति स्थंडिकारूप अलिंदकः, या वा 'अपसारिका' पटालिका, 'कुत्र ? इत्याह–गेहस्य पार्श्वे वा पुरतो वा पृष्टतो वा तद्वंशीमूलं नाम गृहम् ।

२–सागारिक पिण्डः

सागारिक इति शय्यातरः, उपाश्रय दाता इत्यर्थः । तस्य पिण्डः सागारिकपिण्डः । शय्यातर पिंड ग्रहणे आचार्यैर्विविधा दोषाः प्रदर्शिताः । तेषु प्रथमस्तीर्थकराणामाज्ञाखण्डनं द्वितीयः प्रत्यासन्नतया पुनः पुनर्भिक्षा ग्रहणे आहार शुद्ध्यभावः, तृतीयः लोलुपता वृद्धिः शय्यादायकेन मुनीनां सर्वा भिक्षादि व्यवस्था विधेया इति शंकया शय्या दुर्लभा भवेत् इति चतुर्थः । अतश्च मुनिभिः शय्यातर पिण्डो न ग्राह्यः ।

वृत्तिकारेण पूर्वं तावत् कः सागारिकः कदा व शय्यातरो भवति, कतिविधः शय्यातर पिण्डः? इति प्रपञ्चितस्तत्र प्रथमं कः सागारिकः इति प्रदर्शयति––

सेज्जायरो पभूवा, पभू संदिट्ठो व होइ कायव्वो ।
एग मणेगे व पभू, पभु संदिट्ठे वि एमेव ॥

शय्यातरः प्रभुर्वा प्रभु सन्दिष्टो वा कर्त्तव्यो भवति । तत्र प्रभुः–उपाश्रय स्वामी । प्रभु सन्दिष्टस्तु तेनैव प्रभुणा यत् कृत प्रमाणतया निर्दिष्टः । यः प्रभुः स एको वा स्यादनेको वा, प्रभु सन्दिष्टोऽपि 'एवमेव' एकोऽनेको वा भवति ।

कदा सागारिको भवति ? एतस्य बहुविधं प्रतिवाक्यमस्ति तद्यथा–कश्चिद्वदति-क्षेत्रे प्रत्युपेक्षिते सति यदा प्रतिश्रयोऽनुज्ञापितस्तदा सागारिको भवति । अन्यो ब्रूते-यदा तस्य गृहस्याङ्गणं प्रविष्टाः । अपरो भणति–यदा वसतिम् 'अतिगताः, प्रविष्टाः । कश्चिदाह–यदा स्वाध्यायः कर्त्तुमारब्धः । एवं पञ्चदशमतान्निदर्श्य आचार्यः आदि-

शति-एते सर्वेऽप्यनादेशाः कुतः ? इत्याह-अनुज्ञापितावग्रहादिषु निक्षिप्तान्तेषु दिवसत-एव व्याघातो भवेत्, व्याघाताच्चान्यां वसतिमन्यद् वा क्षेत्रंगताः ततः कस्यासौ शय्यातरो भवतु ? आवश्यकादिषु च चतुर्थयाम-पर्यन्तेषु वसति व्याघातेन बोधिकस्तेनादि भयेन वाऽन्यत्र संक्रामतां कस्य शय्यातरो भवितुमर्हति । आदेशः पुनरयं-"निर्व्याघाते" व्याघाताभावे यद्यन्यां वसतिं न गताः तत्रैव रात्रावुषितास्ततो भजना कर्तव्या । स वा शय्यातरो भवेत् इतरो वा अन्य उभयं वा । अन्यत्र स्थाने सुप्त्वा 'चरमं' प्राभातिकमावश्यकमन्यत्र कुर्वन्ती तदा यस्यावग्रहे रात्रौ सुप्ता यदवग्रहे च प्राभातिक प्रतिक्रमणं कृतं तौ द्वावपि शय्यातरौ भवतः । इदं प्रायः सार्थादिषु सम्भवति, आदि शब्दात् चौरावस्कन्द भयादि परिग्रहः । इतरथा तु ग्रामादिषु वसतां 'भजना' विकल्पना ।

अथ कतिविधः शय्यातर पिण्डः ? तत्राऽह-द्विविधो वा चतुर्विधो वा षड् विधो वा अष्टविधो वा द्वादशविधो वा शय्यातरस्य पिण्डो भवति । तद्विपरीतः 'पुनः' 'अपिण्डः' शय्यातर पिण्डो न भवति । द्विविधः-शय्यातरपिण्डः-आहार उपधिश्च । "बिदु" त्ति द्विगुणितौ द्वौ-चत्वारो भवन्तीति कृत्वा चतुर्विधः शय्यातर पिण्डः पुनरयम्-अन्नं पानं औघिकोपकरणं औपग्रहिकोपकरणंचेति । तथा अशनादयश्चत्वारः औघिकोपधिः औपग्रहिकोपधिश्चेति षड्विधः । अन्नं पानं वस्त्रं पात्रं 'शूच्यादय.' शूची-पिप्पलक-नख रदनिका-कर्ण शोधन रूपाश्चत्वार इत्यष्टविधः । तथाऽशनादीनि वस्त्रादीनि सूच्यादीनि चेति त्रीणि चतुष्कानि द्वादश भवन्ति । तद्यथा-अशनं १ पानं २ खादिमं ३ स्वादिमं ४ वस्त्रं ५ पात्रं ६ कम्बलं ७ पादप्रोञ्छनं ८ सूची ९ पिप्पलको १० नखच्छेदनकं ११ कर्ण शोधनकं १२ चेति ।

तृण डगल-क्षार-मल्लक-शय्या-संस्तारक-पीठ-लेपाः, आदि शब्दात् कुटमुखादिकं च एष शय्यातर पिण्डो न भवति । यदि च शय्यातरस्य पुत्रादिः शैक्षो वस्त्र-पात्र सहितः प्रव्रजितुमुपतिष्ठते तदा स सागारिक पिण्डो न भवति, अतः कल्पते सोपधिरप्यसौ प्रव्राजयितुम् । टी०

३-कुलिका कृतानि-इत्यादिः-

कुलिका-कुड्यमुच्यते, ततः कुलिकाकृतादि नाम कुड्यालीनानि कृत्वा स्थापितानि । मृत्पिंडादि निर्मितं कुड्यम् ।

सौवीर विकट-द्राक्षा-खर्जूरादिभिर्द्रव्यैर्निष्पाद्यते तद् मद्यं सौवीरविकटम्।

सीओदग वियड-विकृतं शीतोष्णादि शस्त्रेण विकारं प्रापितम्, प्राशुकीकृतमित्यर्थः। तत्र प्रथमभंगे उष्णोदकमेवशीतीभूतं तन्दुलधावनादिकं वा। तृतीय भंगे उष्णोदकमुद्धृतत्रिदण्डम्।

पाडिहारिय--भुक्तोहरितं भूयोऽस्माकं प्रत्यर्पणीयमिति यत् प्रतिज्ञातं तत्-प्रातिहारिकम्।

अनुद्घातिकः-

अनुद्घातिकः-न विद्यते उद्घातो लघुकरणलक्षणो यस्य तपोविशेषस्य तद्नुद्घातं यथाश्रुतदानमित्यर्थः। तद् यस्य प्रतिसेवाविशेषतोऽस्ति सोऽनुद्घातिकः। तपोगुरुप्रायश्चित्ताहोऽनुद्घातिक उच्यते।

अथवा-उद्घातो नाम भागपातः सान्तरदानं वा स विद्यते यस्मिन्-असावुद्घातिकस्तद्विपरीतोऽनुद्घातिकः। तपोगुरुप्रायश्चित्ताऽर्हे।

त्रयोऽनुद्घातिकाः प्रज्ञप्ताः। उद्घातो नाम भागपातः। सोऽस्त्येषु त उद्घातिकाः, तद्विपरीता अनुद्घातिकाः।

तपोगुरुप्रायश्चित्तस्थानमपि-अनुद्घातिकमुच्यते, तन्मासिकं, चतुर्मासिकम्। षाण्मासिकादिभेदाद्बहुविधम्।

५-पाराञ्चिकः-

पाराञ्चिक इति दशम प्रायश्चित्तस्थानम्। अस्यार्थः-पारं-तीरं गच्छति येन प्रायश्चित्तेनाऽऽसेवितेन तत् पाराञ्चिकम्। पारं पुनः संसार समुद्रस्य तीरभूतम्, अनेनासेवितेन साधुर्मोक्षं गच्छतीति भावः। यद्वा शोधेः पारं-पर्यन्तमञ्चति यत् तद् पाराञ्चिकम्, अपश्चिमं प्रायश्चित्तमित्यर्थः। ततो येन तपसा पारं प्रापितेन अञ्च्यते श्री श्रमणसंघेन पूज्यते तत् पाराञ्चिकं पाराञ्चितं वाऽभिधीयते तद्योगाद् साधुरपि पाराञ्चिकः। पाराञ्चिकः समासेन द्विविधः, तद्यथा-आशातना पाराञ्चिकः प्रतिसेविपाराञ्चिकश्च।

प्रतिसेवना पाराञ्चिकः सूत्रोक्तः त्रिप्रकारः। आशातनो पाराञ्चिको जघन्येन

षण्मासान् उत्कर्षतश्च द्वादश मासान् भवति। एतावन्तं कालं गच्छान्निर्यूढः-बहिर्भूतस्तिष्ठति । प्रतिसेवना पाराञ्चिको जघन्येन सम्वत्सरं उत्कर्षतो द्वादश वर्षाणिनिर्यूढ़ आस्ते। सच कारणे यथोक्तकालादर्वागपि गच्छं प्रविशतीति भावः

अथ के पुनः पाराञ्चिकमर्हन्तीति प्रदर्शयति आचार्यः संहननं वज्रऋषभनाराचम्, वीर्यं-धृत्या वज्रकुड्य समानता, आगमः- जघन्येन नवम-पूर्वान्तर्गतमाचाराख्यं तृतीयं वस्तु उत्कर्षतो दशमपूर्वमसम्पूर्णम्, तच्च सूत्रतोऽर्थतश्च यदि परिजितं भवति, एतैः संहननादिभिर्विधिना च तदुचित समाचारेण यः 'समग्रः' सम्पूर्णः। 'तपस्वी-नाम' सिंह निक्रीडितादि तपःकर्मभावितः। 'निग्रहयुक्तः' इन्द्रिय-कषायाणां निग्रह-समर्थः। 'प्रवचन सारेऽभिगतार्थः' परिणामित प्रवचन रहस्यार्थ इति। किञ्च-यस्य गच्छान्निर्यूढस्य तिलतुषत्रिभागमात्रोऽपि 'निर्यूढोऽहम्' इत्यशुभो भावो न विद्यते स निर्यूहणायाः 'अर्हः' योग्यः। शेषस्य एतद्गुण विकलस्य निर्यूहणा नाऽस्ति, न कर्तव्येत्यर्थः। एतैः-संहननादिभिर्गुणैः सम्प्रयुक्तः पाराञ्चिकार्हं स्थानंप्राप्नोति। यः पुनरेतद्गुण विप्रमुक्तः 'तादृशे' पाराञ्चिकापत्ति प्राप्तोऽपि मूलमेव प्रायश्चित्तं भवति।

६—अनवस्थाप्यम्—

अनवस्थाप्यम्—'यो हि-आसेवितातिचार विशेषः सन्-अनाचरित तपोविशेषः तद्दोषोपरतो महाव्रतेषु नावस्थाप्यते-नाधिक्रियते-असौ महाव्रतेषु स्थापनाऽयोग्यः। नवमं वा प्रायश्चित्तस्थानमनवस्थाप्यमभिधीयते।

७—सम्भोग वृत्तिः—

समान-समाचाराणां साधूनां सहभोजनं संभोगः। सच उपध्यादि भेदाद् द्वादशधा, तथाचाह—"दुवालसविहे संभोगे पण्णत्ते, तं जहा—'उवहिसुअ-भत्तपाणे' अंजली पग्गहेत्तिय। दायणे य निकाए य, अब्भुट्ठाणेति आवरे॥ किइकम्मस्स य करणे, वेयावच्चकरणेइ य। समोसरणं संनिसिज्जा य, कहाए य पबंधणे॥ १॥ सम० ॥ २। परस्परं वस्त्र पात्राद्युपधीनां भक्त पानयोश्च आदानप्रदानं साम्भोगिकस्य साम्भोगिकेनैव भवति, श्रुतसम्पन्नेषु सम्भोगिकस्य, मत्यसाम्भोगिकस्य वोपसम्पन्नस्य

श्रुतस्य वाचना प्रच्छनादिकं विधिना कुर्वन्शुद्धएव। ४ अञ्जलिप्रग्रहः–वन्दनादिकम्। तथाहि 'साम्भोगिकानाम् अन्यसाम्भोगिकानां वा संविग्नानां वन्दनकं प्रणामः-सोऽञ्जलिप्रग्रहः' अर्थात् नमः क्षमाश्रमणेभ्य इति भणनम्। आलोचना-सूत्रार्थ-निमित्त निषद्याकरणं च कुर्वन् शुद्धः। ५ दानं-साम्भोगिकः––साम्भोगिकाय घस्त्रादिभिः शिष्यगणोपग्रहासमर्थे साम्भोगिके। अन्यसाम्भोगिकाय वा शिष्यगणं यच्छन, शुद्धः। ६ निकाचनं-शय्योपध्याहारैः शिष्यगणप्रदानेन स्वाध्यायेन च साम्भोगिकः साम्भोगिकं निमन्त्रयन् शुद्धः। ७ अभ्युत्थानम्–आसनत्यादिरूप सत्कारः-अयसपरं सम्भोगासंभोगस्थानम। ८ कृतिकर्म-वन्दनकम्। ९ वैयावृत्यम् आहारोपधि दानादिना प्रश्रवणा पात्रकाद्यर्पणादिना अधिकरणोपशमनेन साहाय्यदानेन वा उपष्टम्भकरणम्––उपकारकरणमित्यर्थः। १० समवसरणम्-व्याख्यानादिषु यत्र बहवः साधवो मिलन्ति तत् समवसरणम्। ११ सन्निपद्या–एकस्मिन्नेवाऽऽसने सहोपवेशनम्। १२ कथाप्रबन्धः-वादादिकथानां धर्मकथाया वा सहैव करणम इति संक्षेपार्थः, विस्तरार्थस्तु सम्प्रदायादवसेयम्।

८–स्थानायतिकाऽऽदिः–

स्थानायतं नाम ऊर्द्ध्वस्थान रूपमायतं स्थानम्, तद्यस्यामस्ति सा स्थानायतिका।

प्रतिमास्थायिन्–प्रतिमया एक रात्रिक्यादिकया कायोत्सर्ग विशेषेणैव तिष्ठतीत्येवंशीलो यः स-प्रतिमास्थायी।

निषद्या–निषदनं निषद्या उपवेशन प्रकारः–सच उत्कुटुक–गोदोहिक–समपादपुत पर्यङ्क–अर्द्धपर्यङ्क भेदैः पञ्चविधाः।

वीरासनं नाम यथा सिंहासने उपविष्टो भून्यस्तपाद आस्ते तथा तस्यापनयने कृतेऽपि सिंहासन इव निविष्टो मुक्त जानुक इव निरालम्बनेऽपियद् आस्ते। दुष्करं-चैतत, अतएव वीरस्य साहसिकस्यासनं वीरासनमुच्यते, तद् अस्या अस्ति–इति वीरासनिका।

६—पुलाकं—

तिविहं होइ पुलागं, धण्णे गंधे य रसपुलाए य।
चउगुरुगाऽऽयरिआइं, समणीणुद्दहरग्गहणे॥

त्रिविध पुलाकं भवति, तद्यथा—धान्यपुलाकं, गन्धपुलाकं रसपुलाकञ्च। अथ त्रीण्यपि धान्यपुलाकादीनि व्याचष्टे—

निप्फावाईधण्णा, गंधे वा दिगपलंडु लसुणाई।
खीरं तु रस पुलाओ, चिंचिणिदक्खारसाईय॥

निष्पावा वल्लास्तदादीनि धान्यानि पुलाकम्। तथा 'वाइगं' विकटं, पलाण्डुल-शुने च प्रतीते, तदादीनि यानि उत्कट गन्धानि तद्‌गन्ध पुलाकम्। यत् पुनः क्षीरम्, ये च चिञ्चिणिकाया गोस्तनिकाया रसो वा आदिशब्दादपरमपि यद् मुक्तमति-सारयति-तत्सर्वमपि रसपुलाकम्।

अथ किमर्थमेतानि पुलाकान्युच्यन्ते? इत्याह—

आहारिया असारा, करेंति वा संजमाउ णिस्सारं।
निस्सारं च पवयणं, दट्ठुं तस्सेविणिं विंति॥

इह पुलाकमसारमुच्यते, तत आहारितानि वल्लादीनि यतोऽसाराणि सन्ति ततः पुलाकानि भण्यन्ते। संयमाद्वा संयममङ्गीकृत्य यतः क्षीरादीनि निस्सारां साध्वीं कुर्वन्ति, ततस्तान्यपि पुलाकानि, प्रवचनं वा निस्सारं, तेषां विकटादीनां सेवनशीलां संयतीं दृष्ट्वा जना ब्रुवते ततस्तानि पुलाकान्युच्यन्ते।

कल्पस्थितिः—

कल्पः—आचार मर्यादा, सच जिनकल्प, स्थविरकल्पस्थितकल्पाऽस्थितकल्प भेदाद्बहु प्रकारः। शास्त्रोक्त प्रलम्बादिरूपो वा, तस्य समासतः षट् प्रकारा स्थितिः—मर्यादा भवति, अत उक्तं षड्‌विधा कल्पस्थितिः।

सामायिक संयत कल्पस्थितिः—

भरतैरावतक्षेत्रे मध्यवर्त्तितीर्थकृतां विदेह जिनानाञ्चशासने सामायिक-संयमो भवति, तस्य कल्पस्थितिः-सामायिकसंयत कल्पस्थितिः, अत्र चाऽयं विशेषः—

सामायिकसंयमे हि चत्वारि नियतकल्पाः षडनियतकल्पाश्च भवन्ति। तत्र शय्यातर-पिण्ड चतुर्याम-पुरुष ज्येष्ठकृतिकर्मरूपो चतुर्धा नियतकल्पो वेदितव्यः। छेदोपस्थापनीयं नाम यत्र संयमे पूर्वपर्यायस्य छेदेन व्रतेषूपस्थापनम्-आरोपणं क्रियते तच्छेदोपस्थापनकम्, तद् द्विधा सातिचारं निरतिचारञ्च। तत्र निरतिचारं यद् इत्वर-सामायिकस्य शिष्यस्य-आरोप्यते। पार्श्वनाथ साधोर्वा पञ्चयामधर्मप्रतिपत्तौ। सातिचारम्-यन्मूलप्रायश्चित्तवतः--साधोर्भवति यथाचोक्तम्--परियायस्सछेओ, जत्थोवट्ठावणंवएसुचछेदे। छेदोवट्ठावणमिह तमणइयारेतरं दुविहं॥ सेहस्स निरइयारं तित्थंतर संकमेव तं होज्ज। मूल गुण घाइणो सा,-इयारमुभयं च ठियकप्पे।

सातिचारछेदस्य प्रथम-जिनशासने संवत्सररूपोत्कृष्टा तपोभूमिः, मध्यम तीर्थ-करतीर्थेऽष्टमासिकी, श्रीवीरतीर्थे च षण्मासिकी ज्ञातव्या।

छेदोपस्थापनीयस्य दशधा कल्पस्थितिः, तद्यथा--

आचेलक्कुद्देसिय-सिज्जायर-रायपिंड-कितिकम्मे।
वत-जेट्ठ-पडिक्कमणे-मासं पज्जोसवण कप्पे॥

आचेलक्यम १ औद्देशिकं २ शय्यातरपिण्डः ३ राजपिण्डः ४ कृतिकर्म ५ व्रतानि ६ ज्येष्ठः। पुरुष ज्येष्ठो धर्मः ७ प्रतिक्रमणं ८ मासकल्पः ९ पर्युषणाकल्पश्च। सर्वेप्येतेकल्पाः प्रथम चरम जिनयोस्तीर्थे नियमतो भवन्ति।

निर्विशमानादिः-

प्रथम चरम तीर्थकृच्छासने यदा केचिन्मुनयः परिहार विशुद्धिकल्पं प्रविशन्ति तेषां कल्पस्थितिः-निर्विशमानकल्पस्थितिः, अत्रचायं विधिः-तीर्थकृतां पादमूले ये विद्वांसः प्रस्तुतं कल्पं प्रतिपन्नास्त एवाऽन्यांस्तत्र कल्पे स्थापयन्ति। इदमत्रहृदयम्-इयमेवाऽस्य कल्पस्य स्थितिर्यत् तीर्थकर समीपे वाऽमुंप्रतिपद्यन्ते, तीर्थंकर समीप-प्रतिपन्न साधु सकाशे वा, नाऽन्येषाम्।

जघन्यतः सातिरेकाष्टवर्षेषु ये प्रव्रज्यां गृहीत्वा विंशतिवर्षैरधीत-दृष्टिवादाः, परिनिष्ठित ज्ञान-दर्शन-चारित्राः, जघन्यतोऽपि नवपूर्वविदः धृत्यादिगुणयुक्तास्ते कल्पमर्हन्ति।

त्रिषुगणेषु जघन्येन सप्तविंशति पुरुषा भवन्ति, प्रत्येकस्मिन् गणे नवभिः मुनिभिः

परिहारमारभ्यते, तत्र च नवानां मध्यादेको कल्पस्थितः--गुरुस्थानापन्नः, चत्वारः परिहारिकाः, चत्वारश्चाऽनुपरिहारिकाः। परिहारिका यदि वर्षर्तावारभन्ते तदा जघन्येनाऽष्टमंतपः, मध्यमं दशमम्, उत्कर्षेण द्वादशम्। शिशिरेचेत्तदा षष्ठाऽष्टम-दशमरूपेण क्रमशः जघन्यादिकमवसेयम् ग्रीष्मर्तौ-चतुर्थ-षष्ठाऽष्टमरूपाणि जघन्य-मध्यमोत्कृष्ट तपांसि ज्ञेयानि।

पारणकेचाऽऽचाम्लेन पारयन्ति। अनुपरिहारिकाः कल्पस्थितश्च प्रतिदिवस-माचाम्लं कुर्वन्ति। परिहारिकाः प्रथमतः षण्मासान् यावत्प्रस्तुतं तपोवहिन्त, ततोऽनु परिहारिकाः अपि षण्मासान् वहन्ति, इतरे तु तेषामनुपरिहारिकत्वं प्रतिपद्यन्ते। तैरपि व्यूढे सति कल्पस्थितः षण्मासान् वहति, ततः शेषाणामेकः कल्पस्थितो भवति। एकः पुनरनुपरिहारिकत्वं प्रतिपद्यते। एवमेतेऽष्टादश मासाभवन्ति। ते परिहारिकाः षड्भिर्मासैर्गतैस्तपसि व्यूढे सति 'निर्विष्टाः' निर्विष्टकायिका भवन्ति। एवं परिहार तपः समाराधयतां कल्पस्थितिः निर्विशमानकल्पस्थितिः, समापित परिहाराणां या कल्पस्थितिः सा निर्विष्टकायिक कल्पस्थितिः।

जिनकल्पस्थितिः-

धृति-बल-वीर्य संहननादि संयुताः मुनयो जिनकल्पाय समर्था भवन्ति। जिनकल्प-स्थिति ग्रहणेन उपलक्षणत्वात्सर्वेषामपि गच्छ निर्गतानां स्थितिः परिगृह्यते। जिन-कल्पे नास्ति-अपवादपदम्।

स्थविर कल्पस्थितिः-

प्रलम्बादि षड्विध कल्पस्थिति पर्यन्ता, द्विपद युक्ता उत्सर्गाऽपवाद पदद्वय युक्ता स्थविरकल्पस्य स्थितिर्भवति। विस्तारस्तु-आचाराङ्गादिशास्त्रान्तरादवसेयः।